ISSN NO. 2454-2458

नवरचना

NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 8, अंक 1&2, जून–दिस. 2022

A GREFI PUBLICATION

नवरचना NAVRACHNA

वर्ष 8, अंक 1&2, जून–दिस. 2022

सम्पादक

प्रोफेसर वी. पी. सिंह

सह–सम्पादक

प्रोफेसर राजेश मिश्र
प्रोफेसर प्रहलाद मिश्र
प्रोफेसर अरविन्द चौहान
प्रोफेसर परवेज अहमद अब्बासी
प्रोफेसर सत्या मिश्रा

प्रबन्ध सम्पादक

डा. पंकज कुमार सिंह
डा. श्रीपाल चौहान
डा. राजाराम सिंह
डा. मन्जू गोयल
डा. प्रीति तिवारी

सम्पादकीय सलाहकार परिषद

प्रो. हरीश दोषी, सूरत
प्रो. सुरजन सिंह शर्मा, साहिबाबाद
प्रो. जैनेन्द्र कुमार दोषी, उदयपुर
प्रो. आनन्द कुमार, दिल्ली
प्रो. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
प्रो. रणविन्दर सिंह सन्धू, अमृतसर
प्रो. कामेश्वर चौधरी, लखनऊ
प्रो. चारुलता सिंह, दिल्ली
प्रो. रघुनन्दन शर्मा, पटना
प्रो. आभा चौहान, जम्मू
प्रो. राजेश गिल, चन्डीगढ.
प्रो. अनीसा शफी, श्रीनगर
प्रो. ज्ञान प्रकाश पांडे, शिलचर
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. मौहम्मद सलीम, वाराणसी
प्रो. जगदीश कुमार पुण्डीर, मेरठ
प्रो. प्रदीप सिंह चूडावत, बडोदरा
प्रो. ए. पी. सिंह, वाराणसी
प्रो. खजान सिंह सांगवान, रोहतक
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. ज्वाला प्रसाद पचौरी, श्रीनगर
प्रो. कमला गणेश, मुंबई
प्रो. माधव गोविन्द, दिल्ली
प्रो. आर. जी. सिंह, भोपाल
प्रो. आर. डी. मोर्य, महू
प्रो. विपुल सोमानी, सूरत
प्रो. जे. सी. पटेल, अहमदाबाद
प्रो. जय प्रकाश त्रिवेदी, आनन्द
प्रो. हेमीक्षा राव, राजकोट
प्रो. जे. पी. सिंह, पटना
प्रो. भगवान सिंह विष्ट, नैनीताल
प्रो. मनजीत चर्तुवेदी, वाराणसी
प्रो. रवि प्रकाश पांडे, वाराणसी
प्रो. तेज मल दक, उदयपुर
प्रो. सतीश कुमार शर्मा, चंडीगढ़
प्रो. रश्मि जैन, जयपुर
प्रो. अनिल भार्गव, जयपुर
प्रो. मनीष कुमार वर्मा, लखनऊ
प्रो. मधु सिसौदिया, वाराणसी
डा. भगवती प्रसाद बडोला, धर्मशाला
डा. सर्वेश दत्त त्रिपाठी, दिल्ली
डा. विनीता सिंह, रांची
डा. स्मिता सुरेश अवाचार, ओरंगाबाद
डा. पद्मा रानी, मणिपाल
डा. आशुतोष व्यास, चित्तौड़गढ़
डा. राज कुमार कायस्थ, शिमला
डा. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
डा. मौ. अकरम, अलीगढ.
डा. वाई. एस. भदौरिया, लखनऊ
डा. विशेष कुमार गुप्ता, मुरादाबाद
डा. श्रुति सिंह, दिल्ली
डा. रविन्द्र बंसल, बरेली
डा. महेश शुक्ला, रीवा
डा. मनु गौराहा, उज्जैन
डा. लता कुमार, मेरठ
डा. मनीष पांडे, गोरखपुर
डा. अय्यूब खान, ग्वालियर
डा. आशीष सक्सेना, इलाहाबाद
डा. इति तिवारी, इलाहाबाद
डा. प्रमोद कुमार शर्मा, रायपुर

ISSN No. 2454-2458 *@ NAVRACHNA* *www.grefiglobal.org*

नवरचना NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

ISSN NO. 2454–2458

वर्ष 8 | अंक 1&2 | 2022

अनुक्रमणिका

शोध लेख

अल्प विकास एवं निर्भरता सिद्धान्त — 3
वीरेन्द्र पाल सिंह'

प्रोफेसर घुरिये का जाति पर चिन्तन : एक समीक्षा — 25
ब्रजराज चौहान

भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव — 31
रीता जायसवाल

मॉक्स वेबरः विधि एवं समाज — 41
सत्या मिश्रा

पुस्तक समीक्षा

सिंह, वी. पी. *नेटवर्क, एजुकेशन एण्ड मोबिलिटी इन लीगल प्रोफेशन* — 47
श्रीपाल चौहान

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2022
वर्ष 8, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2022, पृ. 3–

अल्प–विकास एवं निर्भरता सिद्धान्त

वीरेन्द्र पाल सिंह*

विकास का विश्लेषण करने वाला एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण–विकासवादी अथवा आधुनिकीकरण सिद्धान्त है जो किसी एक समाज में होने वाले संरचनात्मक परिर्वतनों के मापकों की खोज करता हैं तथा विकास की मात्रा को निर्धारित करने के लिए इनका उपयोग जो दूसरे समाजों के सन्दर्भ में करता है। दूसरे शब्दों में वे समाज, उदाहरण के लिए, जो उच्च समग्र राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product) अथवा तकनीकी के स्तर मे वृद्धि तथा संगठनात्मक जटिलता रखते हैं, अधिक विकसित समाजों के रुप में देखे जाते हैं। विरोधी सिद्धान्तकारों की दृष्टि में यह दृष्टिकोण समाजों के बीच होने वाले सम्पर्क से सम्बन्धित ऐतिहासिक साक्ष्य के पूर्ण विवरण का आकलन करने में असफल रहा है।

उनके विचार से, ऐतिहासिक साक्ष्य का इस प्रकार का कृत्रिम रुप से परीक्षण यह संकेत देता है कि समाजों का विकास एक दूसरे से पृथक रहकर हुआ है। सम्पूर्ण मानव इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिसमें कुछ राष्ट्रों ने दूसरों को जीतकर उनके संसाधनो तथा व्यक्तियों, दोनों को ही शोषित किया है। यह विचार कि औद्योगिकी करण के लिए आवश्यक तकनीकी और प्रवृत्तियों को परोपकारी विसरण (benevolent diffusion) की प्रक्रिया के द्वारा फैलाया जा सकता है, मार्क्सवाद से प्रभावित अनेकों सिद्धान्तकारों ने इस धारणा को गम्भीर रुप से चुनौती दी है। मार्क्स का कार्य इस दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण सामाजिक व्यवस्थाओं के मध्य आर्थिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में करता है। इस दृष्टिकोण से विद्वानों द्वारा लिखी गयीं रचनाओं को समझने के लिए सबसे पहले मार्क्स के सामाजिक परिर्वतन से सम्बन्धित विश्लेषण को संक्षेप में समझना आवश्यक है।

वीरेन्द्र पाल सिंह, पूर्व आचार्य, समाजशास्त्र (असम विश्वविद्यालय, सिलचर) व वैश्वीकरण एवं विकास अध्ययन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज 211002

कार्ल मार्क्स (1818–1883)

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक सम्बन्धों के प्रतिमान के अपने विश्लेषण के लिए ख्याति प्राप्त की तथा उसने आर्थिक सम्बन्धों की दूसरे सभी सामाजिक सम्बन्धों के आधार के रुप में पहचान की। मार्क्स ने अपने विश्लेषण को इस प्रस्थापना से प्रारम्भ किया है कि समाज में व्यक्तियों को अपने अस्तित्व के लिए अपनी मूलभूत आवश्यकताओं–भोजन, वस्त्र तथा आवास को पूरा करने की आवश्यकता होती है। इन भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने की प्रक्रिया के दौरान ही मनुष्य के एक दूसरे के साथ सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध बनते हैं तथा इन सम्बन्धों की प्रकृति में परिवर्तन उन आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में बदलाव होने के कारण होता है। मार्क्स के विश्लेषण का आधार यह है कि "मनुष्य का सामाजिक जीवन किसी भी काल में आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था की प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है।"

मार्क्स की इस सैद्धान्तिक योजना ने समाज वैज्ञानिकों को प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के प्रति एक उग्रवादी विकल्प प्रदान किया। जैसा कि मार्क्स के जीवन पर्यन्त मित्र रहे एफ. ऐजिल्स ने मार्क्स की समाधि पर 17 मार्च 1883 को भाषण देते हुए यह घोषणा की थी कि "जिस प्रकार डारविन ने सावयवी प्रकृति के विकास के नियमों की खोज की थी उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास के नियमों की खोज की" (मार्क्स और एंजिल्स 1970: 429)।

मार्क्स के लिए समाज का भौतिक आधार एक व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रुप मे अस्तित्व का निर्धारण और नियन्त्रण करता है। इसमे मार्क्स सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मे भौतिक दशाओं की भूमिका पर बल देता है, उसका यह विचार वेबर के उस विचार के विपरीत है जिसमे वेबर ने इस प्रक्रिया में विचारों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक मानने पर जोर दिया है। जैसा कि एंजिल्स ने स्वयं घोषित किया :

> "प्रत्येक ऐसे समाज में, जिसका इतिहास में अस्तित्व हैं, सभी सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक क्रान्तियों के कारणों को न तो व्यक्तियों के मस्तिष्कों मे, और न ही मनुष्य के शाश्वत सत्य और न्याय की खोज करने में की जायेगी, अपितु इसे उत्पादन और, विनिमय प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों के रुप में देखा जायेगा।" (मार्क्स और एंजिल्स 1970: 411)।

इस प्रकार सामाजिक संगठन के प्रत्येक स्वरुप को (प्रारम्भिक साम्यवादी समाजों के अतिरिक्त) मार्क्स के अनुसार परस्पर विरोधी सामाजिक समूहों के मध्य संघर्ष प्रतिमानों के रुप मे देखा जा सकता है। उसने समाज के आर्थिक निर्माण में एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी, तथा आधुनिक पूंजीवादी युग को प्रगतिशील कालों के रुप में देखा है। वास्तव मे मार्क्स और एंजिल्स का दावा है कि मानव समाज की सभी अवस्थाओं मे संघर्ष एक निरन्तर रुप से चलने वाली प्रघटना रही है और आगे भी यह घटित होती रहेगी। उनके ही शब्दों में:

> "The history of all hitherto existing society is the history of class struggles..... our epoch, the epoch of the Bourgeoisie, possesses, however, this distinctive feature: it has simplified the class antagonism. Society as a whole is more and more splitiny up into two great hostile

camps, into two great classes directly facing each other: Bourgeoisic and Proletariat. (Marx and Engels 1970: 35-6)

''अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है.....हमारा युग, पूंजीवाद का युग, यद्यपि इस विशिष्टता को रखता है, इसने वर्ग विरोधाभास को सरल कर दिया है। समाज एक सम्पूर्ण रुप में दो विरोधी खेमोंः बुर्जुआ और सर्वहारा मे अधिकाधिक विभाजित हो रहा है जो एक दूसरे के आमने–सामने संघर्ष की स्थिति हैं'' (मार्क्स और एंजिल्स 1970ः 35.36)।

इस प्रकार से, मार्क्स के अनुसार, समाज दो बड़े वर्गों : बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग मे विभाजित हो जाता है। मार्क्स के अनुसार, प्रत्येक पूंजीवादी समाज के अन्दर शोषणकारी सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है जो उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के प्रतिमानों (अर्थात वर्ग सम्बन्धों) पर स्थापित होती है जिसका निर्धारण उत्पादन प्रक्रिया की प्रकृति से होता है। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन प्रक्रिया के एक भाग को निर्मित करते है। उत्पादन के साधनों के साथ मिलकर ये *उत्पादन की प्रणाली* (Mode of Production) को निर्मित करते है। मार्क्स का दावा है कि समाजों का विश्लेषण उनके अर्न्तगत पायी जाने वाली उत्पादन प्रणाली की प्रकृति के अर्थ में किया जा सकता है। एक बार यह ज्ञात हो जाने पर समाज की प्रकृति को निर्धारित करना संभव हो जाता है क्योंकि उत्पादन–प्रणाली में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन आवश्यक रुप से सामाजिक सम्बन्ध के प्रतिमानो में तदानुसार परिवर्तन ले आयेगा।

मार्क्स ने प्रारम्भिक साम्यवाद का अनुसरण करने वाली चार प्रमुख अवस्थाओं की घोषणा की। ये है एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी, तथा आधुनिक बुर्जुआवाद। मार्क्स के अनुसार समाज आधुनिक बुर्जुआवाद की अवस्था में उस समय पहुँच जाता हैः

When "feudal system of industry under which industrial production was monopolised by closed guilds now no longer sufficed for the growing wants of the new markets. The manufacturing system took its place. The guild masters were pushed on one side by the manufacturing middle class…. Meantime the market kept ever growing, the demand ever rising. Even manufacture no longer sufficed.... The place of manufacture was taken by the giant, Modern industry." (Max & Engels 1970: 36-37).

"जब उद्योग की सामन्तवादी व्यवस्था जिसके अर्न्तगत औद्योगिक उत्पादन पर बंद शिल्प संघों का एकाधिकार होता है, नये बाजारों की बढ़ती हुई मांगो के लिए से पर्याप्त नहीं रह जाती। इसका स्थान उत्पादनकारी व्यवस्था ले लेती है। शिल्प संघों के मालिकों को उत्पादनकारी मध्य वर्ग द्वारा एक ओर धकेल दिया जाता है। इसी समय बाजार की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहती है; मांग मे भी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यहाँ तक कि अब उत्पादन की यह प्रणाली भी पर्याप्त नहीं रह जाती। इसका स्थान अब असाधारण आधुनिक उद्योग द्वारा ले लिया जाता है" (मार्क्स और एंजिल्स 1970ः 36–37)।

मार्क्स ने इस बात को स्वीकार किया है कि उद्योग व्यवस्था संभवतः मानव जाति की सर्वाधिक रक्षक व मुक्तिदायक व्यवस्था थी। उसने इसे एक ऐसी व्यवस्था के रुप मे देखा जो सभी

के लिए एक सुधरे हुए जीवन–स्तर को प्रदान करती है, परन्तु मार्क्स की व्याख्या के अनुसार इसमें एक महत्वपूर्ण समस्या थी जो औद्योगिक व्यवस्था को उसकी सम्पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त करने से वंचित कर देगी। उसके अनुसार यह समस्या, पूँजीवादी व्यवस्था थी। उत्पादन की यह प्रणाली–औद्योगिक पूंजीवाद–एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें उत्पन्न सम्पदा एक अल्पसंख्यक वर्ग–पूंजी के मालिकों के समूह, की सम्पूर्ण संपत्ति बन जाती है। साथ ही, सम्पदा के उत्पादक–बहुसंख्यक वर्ग, जिनका मार्क्स ने 'भाड़े वाले दास' (wage slaves) के रुप में वर्णन किया है। दासता तथा अपेक्षाकृत गरीबी की दशा मे जकड़ जाते है। मार्क्स के अनुसार यही पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्धों का आवश्यक स्वरुप है।

औद्योगिक पूंजीवाद के अर्न्तगत मार्क्स ने दो बड़े वर्गो के उदय को देखा है: उत्पादन करने वाले पूंजीपतियों का एक अल्पसंख्यक वर्ग, जिसे उसने 'बुर्जुआ (bourgeoisie) कहा है' तथा औद्योगिक श्रमिकों का एक बहुत बड़ा वर्ग, जिसे उसने 'सर्वहारा'(proletariat) कहा है। नगरों का तेजी से विकास होने के साथ–साथ नगरीय श्रमशक्ति के बड़े समूह का असाधारण फैक्ट्रियों में विकास, मार्क्स के विचार से वर्ग संघर्ष को बढ़ाने के लिए एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है। पूंजीवादी बुर्जुआ जो उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है तथा भूमिहीन सर्वहारा जिसके पास अपने श्रम को छोड़कर और किसी वस्तु का स्वामित्व नहीं होता औद्योगिक उत्पादन के समीकरण के दो परस्पर विरोधी पक्ष हैं। उत्पादन की इस प्रक्रिया में, मार्क्स के विचार से, सर्वहारा कच्चे माल को उपयोगी वस्तुओं में परिवर्तित करता है तथा इसके द्वारा वह कच्चे माल के मूल्य को बढ़ा देता है। इसके बदले में सर्वहारा को बुर्जुआ से मजदूरी प्राप्त होती है, जो इस प्रकार से बुर्जुआ वर्ग परिष्कृत वस्तु पर अपना दावा करता है तथा जिसे वह बाजार में लाभ ले कर बेच देता है।

मार्क्स का आकलन है कि बुर्जुआ द्वारा दी जाने वाली मजदूरी को हमेशा उत्पादन की लागत के निचले स्तर पर निश्चित किया जाता है। इस प्रकार बुर्जुआ को दोहरा लाभ होता है:

1. वो 'अतिरिक्त मूल्य' से अर्थात वस्तु के मूल्य तथा श्रम मूल्य के बीच के अन्तर से।
2. वे तैयार वस्तु को उपभोक्ता को खुदरा मूल्य पर बेचकर लाभ उठाते हैं।

मार्क्स ने अपने उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार आर्थिक सम्बन्ध पूंजीपतियों को लगातार अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए बाध्य करते रहते हैं। ऐसा करने में वे परस्पर प्रतिस्पर्धा करने के लिए बाध्य हैं। इसके परिणाम स्वरुप, प्रतिस्पर्धा को कम करके तथा अर्थ– व्यवस्था के स्तर को बढ़ाकर, छोटे उद्योग बड़े उद्योगों द्वारा निगल लिए जाते हैं। जैसे–जैसे अधिक से अधिक सर्वहारा एक स्थान पर एकत्रित होते है, मार्क्स का सोचना है कि श्रमिक में अपने सामान्य हितो के प्रति जागरुकता आयेगी और वे एक 'वर्ग समूह' का निर्माण करेंगे तथा एक एकीकृत वर्ग के रुप में वे अपनी शक्ति को महसूस करेंगें, तथा वे उठ खड़े होंगें और अपने क्राँतिकारी कार्यों के द्वारा बुर्जुआ को उखाड़ फेंकेगे। एक निश्चित काल जिसे मार्क्स ने 'सर्वहारा की तानाशाही' (Dictatorship of the Proletariat) कहा है. के बाद लोगों का पुर्न–समाजीकरण हो जायेगा जिसमें वे प्रतिस्पर्धात्मक सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व देंगे; पूंजीवाद का शोषणकारी तन्त्र समाप्त हो जायेगा तथा एक वर्ग विहीन कल्याणकारी राज्य अर्थात–कम्यूनिज्म की अवस्था आ जायेगी।

आधुनिक विश्लेषकों ने मार्क्स की इस सैद्धान्तिक योजना को संशोधित किया तथा उसे आज के विश्व पर लागू करने के प्रयास किये। इस प्रकार के दृष्टिकोण को ही नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहा जाता है। नव–मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने समाजों के अर्न्तगत पूंजीवादी सम्बन्धों तथा समाजों के बीच सामाजिक सम्बन्धों के विश्लेषण के क्षेत्र का विस्तार किया है। विकास और अल्प विकास के संदर्भ मे इसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण Aiden Foster-Carter ने E. De kadt तथा C. Williams द्वारा संम्पादित Sociology and Development (1974) नामक पुस्तक में 'Neo Marxist Approaches to Development and Under development' शीर्षक से प्रकाशित एक लेख में किया है। इस दृष्टिकोण से पूंजीवादी औद्योगिक समाजों को अपनी वैभवता प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिए कम विकसित देशों के साथ शोषणकारी सम्बन्धों पर निर्भर होना पड़ता है। अब हम इस दृष्टिकोण की विस्तृत रुप से चर्चा करेंगे।

विकास और अल्प–विकास का नव–मार्क्सवादी उपागम
(Neo-Marxist Approach to Development and Under Development)

'नव–मार्क्सवादी' एक ऐसा शब्द है जिसे मार्क्सवादियों द्वारा पसन्द नहीं किया जाता। इन विद्वानों (मार्क्सवादी) का तर्क यह है कि यदि कोई चीज मार्क्सवादी है तो इसमें कुछ और नहीं जोड़ा जा सकता तथा यदि यह मार्क्सवादी नहीं है तो इसकी पुर्नपरीक्षा (मार्क्सवादी दृष्टिकोण से) होनी चाहिये अन्यथा यह पाखण्ड पूर्ण वस्तु होगी।

ऐडन फोस्टर–कार्टर (Aiden Foster Carter) एक ऐसे मार्क्सवादी हैं जो 'नव–मार्क्सवादी' शब्द को एक उपयोगी और आवश्यक शब्द मानते हैं, विशेषकर मार्क्सवादी विचार धारा की एक उप–शाखा को समझने के लिए एक ऐसी विचारधारा जो प्रमुख रुप से 1945 से अल्पविकसित देशों में मार्क्सवाद की प्रयोगिक सफलता तथा अधिक विकसित देशों में इसकी अपेक्षाकृत असफलता के प्रसिद्ध विरोधाभास से समझौता करने का प्रयास करती है।

एक अकादमिक गतिविधि के रुप में 'नव–मार्क्सवाद' उन तरीकों का प्रतिउत्तर है जिनके द्वारा माओ तथा हो ची मिन्ह (Ho Chi Minh) ने विश्व को परिवर्तित किया तथा रास्तोव जैसे व्यक्ति दूसरे लोगों के लिए ऐसा करने में असफल रहे। क्योंकि विकास का सम्बन्ध विश्व को परिवर्तित करने से है : किसी भी विचार से इस प्रकार के मार्क्सवादियों की प्रयोगिक उपलब्धियों का वास्तव मे महत्व है। परन्तु समस्या प्रमुख रुप से उस समय आती है कि जब वे कहते क्या हैं? और करते क्या हैं?

विकास और अल्प विकास

उस समय शब्दावली पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जब हम पाते हैं कि नव–मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने न केवल बुर्जुआ सिद्धान्तों की आलोचना की है अपितु उन शब्दों की भी जिनसे इनकी विषय वस्तु को प्रस्तुत किया गया था। जेली (Jalee) ने 'तीसरे विश्व' के विचार की भी आलोचना की है तो रोड्स (Rhodes) ने परम्परा/आधुनिकता के द्विखण्ड़ात्मक विभाजन की आलोचना की है तथा बेटलहाइम (Bettelheim) ने 'अल्प विकसित' (Underdeveloped) की धारणा में व्यापत त्रुटियों पर प्रकाश डाला है। यहाँ पर हमें एक विरोधाभास नजर आता है। समाज विज्ञान मे

'विकास' की धारणा का अर्थ है कि एक समय के बाद सामाजिक–आर्थिक संरचनाओं के विभिन्न प्रकारों का धीरे–धीरे बदल जाना तथा दूसरी अवस्थाओं का आ जाना, यह निश्चित रुप से मार्क्सवादी उद्भव रखती है। इस अर्थ मे विकासवादी सिद्धान्त मूल रुप से मार्क्सवादी है; जबकि इसके विपरीत अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही 'नव–मार्क्सवादी सम्प्रदाय' आवश्यक रुप से अल्पविकास की समस्या के चारों ओर केन्द्रित हो गया है तथा इसे न केवल बुर्जुआ सिद्धान्तों तथा समाधानों मे निहित विसंगतियों के विरुद्ध विकसित सिद्धान्त के रुप मे समझा जाना चाहिए अपितु यह पिछड़े देशों के बारे में परम्परागत मार्क्सवादी विचारों से सहमत नहीं है। अतः नव–मार्क्सवादी सिद्धान्त की संरचना को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी दोनों ही सिद्धान्तों में देखनी होगी।

मार्क्सवाद में नव–मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि

हाल ही में कुछ विद्वानों ने गैर–यूरोपीय विश्व के बारे मे मार्क्स के विचारों की समीक्षा की है। 'उनके अनुसार मार्क्स का रुख 'एशियाई उत्पादन प्रणाली'(Asiatic Mode of Production) के प्रति आक्रमणकारी था, प्रमुख रुप से इसके अपवर्तनीय आधार पर। तथा जबकि उपनिवेशवादी विजयों और शासन की दम्भता् (Hypocrisy) तथा निर्दयता (Brutality) के प्रति भी उसका रुख उतना ही आक्रमक था; उसने उपनिवेशवाद को निसन्देह एक अर्थ में ऐतिहासिक आवश्यकता के रुप में देखा है। परन्तु किस अर्थ में? इस सन्दर्भ में भारत का उदाहरण लिया जा सकता है।

एक ओर भारत जैसा देश जो *स्वमेव परिवर्तित नहीं हो सका था* तथा *यह इतना कमजोर था कि कोई भी इस पर विजय प्राप्त करने के लिए बाध्य था*। वहीं दूसरी ओर *नव–यूरोपीय पूंजीवाद में अपनी एक विस्तारवादी गतिशीलता थी,* जिसने शेष गैर–पूंजीवादी विश्व को अनेकों प्रकार से प्रभावित करते हुए उसका उपयोग किया। अतः कम से कम इन तीन अवधारणात्मक रुप से पृथक आवश्यकताओं के संयोजन से एक बड़ी आवश्यकता ने दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों के साथ जन्म लिया। पूंजीवादी प्रभाव की प्रकृति के बारे में भी मार्क्स के विचार अस्पष्ट हैं। प्रारम्भ में यह पूर्ण रुप से लूट–खसोट (Depredation) की एक तरफा घटना जान पड़ती है जो व्यावसायिक पूंजीवाद के औद्योगिक पूंजीवाद मे परिवर्तित होने के लिये उपयोगी ही नहीं, शायद बहुत आवश्यक है। इस प्रकार परिवर्तित यूरोपीय–पूंजीवाद की अपने उपनिवेशों को वास्तव मे 'विकसित' करने में रुचि जाग्रत हुई। यहां मार्क्स (1968: 83–7) एक तकनीकी निर्धारकवादी की भाँति अपने व्याख्यान को आगे बढ़ाते हुए इस बात से सन्तुष्ट है कि रेलवे की स्थापना भारत को पूंजीवादी विकास के मार्ग पर ले जायेगी। प्रत्यक्ष रुप से वह इस अन्तिम महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार नहीं करता कि क्या किसी देश तथा सामाजिक संरचना में पूंजीवाद आंतरिक रुप से उत्पन्न होगा जैसा कि यूरोपीय सामन्तवाद के प्रकरण में हुआ था अथवा इसे बाहर से लाया जायेगा वास्तव में एक व्यवस्था के रुप में पूंजीवाद का उसके ठोस रुप (विरोधी, राष्ट्रीय, तथा उपनिवेशीय पूंजीवाद) से प्रकट होने से सम्बन्ध का सारा प्रश्न मुश्किल से ही उत्पन्न होता लगता है। पूंजीवाद को एक ऐसी प्रक्रिया अथवा एक ऐसी वस्तु के रुप में देखा गया है जिसको यदि किसी समाज में चाहे उसका उद्भव कैसा भी हो, यदि स्थापित कर दिया जाये तो वह एक निश्चित दिशा की ओर विकास करेगा, ऐसा होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि यह कुछ निश्चित यांत्रिक अवस्थाओ के क्रम में ही घटित हो। मार्क्स निश्चित रुप से यह जानता था कि

पूंजीवाद की मूल प्रवृत्ति सम्पदा तथा गरीबी दोनों ही उत्पन्न करने की हैं परन्तु वह इसके अर्न्तराष्ट्रीय ध्रवीकरण की अपेक्षा इसे राष्ट्रीय समाजों (ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी अमेरिका) में ही घटित होने पर विचार करता दिखायी पड़ता है। स्वभावतः प्रगतिवादी धारणा के रुप में पूंजीवाद की कल्पना में कभी कोई ऐसा विचार छिपा हुआ नहीं था कि उपनिवेशीय पूंजीवाद एक भिन्न प्रघटना हो सकती है; यह कि पूंजीवाद को एक सम्पूर्ण के रुप मे एक प्रक्रिया अथवा प्रक्रियाओ के प्रतिमान के रुप में नहीं अपितु दो असमान भागीदारों मे मध्य संम्बन्ध के रुप मे देखना चाहिए जिनमें से एक दूसरे की कीमत पर विकसित होता है। ऐसी धारणाएं मार्क्स के लिए पूर्णतया विदेशी हैं।

मार्क्स 19वीं शताब्दी के बाद के भाग में हुए साम्राज्यवादी विस्तार के पहले के काल में रह रहा था। यद्यपि वह इन मुद्दों को स्पष्ट रुप से सामने ले आया था। फिर भी उसके सामने लेटिन अमेरिका का तीन शताब्दियों का 'विकास' तथा कई दशकों की राजनीतिक स्वतन्त्रता थी, जिस पर वह एकदम मौन था तथा उसने कुछ न कहकर अच्छा ही किया क्योंकि उसके सरल, अज्ञानपूर्ण तथा वास्तव में प्रजातिवादी टिप्पणियों के लिए 'क्षणिक' एक बहुत नम्र शब्द है। आयरलैंड के बारे में मार्क्स के विचार निश्चित रुप अत्यधिक गम्भीर है। जबकि भारत के सम्बन्ध में उसका सोचना था कि "इग्लैंड (यहाँ) एक दोहरे मिशन को पूरा करेगाः पहला विध्वंसात्मक तथा दूसरा उत्पादनशील–प्राचीन एशियाई समाज का विलुप्तीकरण और एशिया में पश्चिमी समाज की नींव डालना – वे विकास के लिए भौतिक प्रस्थापनाओं को स्थापित करने में असफल नहीं होंगे। – क्या बुर्जुआ वर्ग ने कभी इससे अधिक कुछ किया है" (मार्क्स और एंजिल्स, 2001: 73)।

मार्क्स की दृष्टि में, इसके विपरीत "आयरलैंड अपने विकास में *''अंग्रेजी अतिक्रमण के षड़यन्त्र का शिकार''* हो गया तथा उसे शताब्दियों पीछे धकेल दिया गया। आइरिश लोगों का लगातार उत्पीड़न करके उन्हें कृत्रिम रुप से उन्हें पूर्णरुपेण एक गरीब राष्ट्र में परिवर्तित कर दिया गया" (मार्क्स और एंजिल्स, 1971)

ब्रिटिश षड़यन्त्र का यह विचार अल्पविकास की नव–मार्क्सवादी अवधारणा के बहुत ही निकट है विशेष रुप से फ्रेंक के विचारों के। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि इस विचार में ऐसी कोई गम्भीर चीज नहीं है जिसे आगे विकसित करने के लिए नींव के रुप में अथवा आधारभूत मान्यता के रुप में लिया जा सके। आयरलैंड पर इस प्रकार की टिप्पणी के बावजूद मार्क्स की रचना में ऐसी कोई धारणा नहीं है कि अल्प विकास (Under-development) अ–विकास (undevelopment) से कम अथवा अधिक है। और न ही कोई इस प्रकार की कोई व्यंगोक्ति ही जो किसी समाज को विश्व इतिहास की धारा मे एक बन्द गली की ओर धकेलने की भर्त्सना करती हो।

अभी तक मार्क्सवादी चिन्तन में दो महत्वपूर्ण पक्षों पर विचार नहीं हुआ है, इस आधार पर कि मार्क्स की मृत्यु के बाद के पचास वर्षो मे हुई घटनाओं में इनका महत्व अधिक स्पष्ट हुआ था। ये दो विषय हैः (1) राष्ट्र का प्रश्न (2) कृषक वर्ग का प्रश्न।

जैसा कि विदित है कि मार्क्स का कृषकों के प्रति कोई प्रशंसाकारी रुख नहीं था। उसने इसे एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रुप में देखा है जिसे ऐतिहासिक मंच से किसी भी दशा में अदृश्य हो जाना चाहिये।

नव–मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषताएं

नव मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषताओं को दो उप–शीषकों के अर्न्तगत रखा जा सकता है

(1) बुर्जुआवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध इसकी विशेषताएं

(2) मार्क्सवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध इसकी विशेषताएं

(1) बुर्जुआवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध नव मार्क्सवाद की विशेषताएं

(अ) विचारधारा (Ideology)

विचारधारा के स्तर पर विकास के बुर्जुआवादी सिद्धान्त और नव मार्क्सवादी सिद्धान्तों मे अन्तर हैं। नवमार्क्सवादी अपने बुर्जुआ विरोधियों के आलोचक है। बुर्जुआवादी विकास सिद्धान्त जो 'मूल्य मुक्त विज्ञान' (value free science) का समर्थक है। एक विचारधारा के रुप में सामने आ गया है जो जानबूझकर पश्चिमी विदेश नीति तथा आर्थिक हितों की पूर्ति करता है अथवा पश्चिमी पूर्वाग्रहों से ग्रसित है।

बुर्जुआवादी सिद्धान्तकार यह मानने को बाध्य है कि विकास 'परम्परागत' (अविकसित अवस्था) से 'आधुनिक' (विकसित) अवस्था की ओर होने वाली उद्विकासवादी प्रक्रिया है। जैसा कि औद्योगिक पूंजीवादी समाजों, प्रमुख रुप से अमेरिका के सम्बन्ध में हुआ था, ऐसा मानकर चलती है कि किस प्रकार से 'हम' (आधुनिकता के वाहक) 'उन्हें' (अविकसित देशों को) अपनी तरह का बना सकते है? परन्तु यह दृष्टिकोण इंग्लैड तथा अन्य विकसित देशों के विकास के दौरान हुई हिंसा को भुला देता हैं। साथ ही यह स्वीकार करने में भी असफल हो जाता है आज के अल्प विकसित देश बड़े विकसित देशों में औद्योगिक पूंजीवाद का विकास करने की प्रक्रिया में ही अल्पविकसित हुए है तथा उनकी स्थिति की किसी भी प्रकार से औद्योगिकीकरण से पहले के यूरोप से तुलना नहीं की जा सकती।

विकसित देशों की अल्प विकास के उत्पन्न करने और उसे बढ़ाने में उनकी भूमिका से भागते हुए बुर्जुआ विकासवादी सिद्धान्तकार अल्पविकसित देश के लोगों पर ही इसका आरोप रख देते हैं। अधिकतर विकासवादी सिद्धान्तों में यह कहा गया है कि 'गरीब' इसलिए गरीब है क्योंकि वे आलसी हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों की आन्द्रे गुन्डर फ्रेंक ने कटु आलोचना की है।

(ब) सम्पूर्णता (Totality)

नव–मार्क्स वादी इस बात पर बल देते हैं कि विश्व को एक एकीकृत इकाई के रुप में समझना चाहिए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फ्रेंक की मेट्रोपोलिस–सेटेलाइट सम्बन्ध की श्रंखला वाली स्कीम है। जिसमें उन्होंने बताया है कि यह श्रंखला विकसित देशों के 'विश्व महानगरों' से प्रारम्भ होकर उसके दूसरे उपग्रहों राष्ट्रों, पूंजीवादी शहरों, क्षेत्रीय व स्थानीय केन्द्रों, बड़े जमीदारों, व्यापारियों, छोटे किसानों, तथा किरायेदारों से भूमिहीन मजदूरों तक जाती है। इनमें पहली श्रेणी किसी अन्य का उपकेन्द्र नहीं है तथा अन्तिम श्रेणी किसी का मेट्रोपोलिस केन्द्र नहीं है। शेष सभी

दोनों भूमिकाएं अदा करते हैं। इसमें बाह्य से केन्द्र की ओर अतिरिक्त उत्पादन को खींच लिया जाता है तथा कुछ का विकास दूसरों की कीमत पर होता है।

(स) इतिहास (History)

ऐतिहासिक दृष्टि से नव–मार्क्सवाद 'परम्परावाद' की बची–खुची श्रेणी के स्थान पर आज के अल्पविकसित समाजों के विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों पर स्वयं को केन्द्रित करता है। इस प्रकार यह दूसरी चीजों के मध्य अपने इस विचार को सिद्ध करता है कि अल्पविकास को विकसित देशों द्वारा उत्पन्न किया गया है। भूले हुए भूतकाल में अधिकतर यही हुआ था। फ्रेंक ने एक बार फिर यह दर्शाया है कि 'विश्व के आज के "सबसे अधिक अल्पविकसित' भागों मे जहाँ पहले कभी सम्पदा थी, वहाँ आज गरीबी है तथा जहाँ पहले गरीबी थी, वहाँ विकास हो गया है"।

(द) क्रान्ति (Revolution)

भूतकाल की पुर्नखोज की सबसे प्रमुख सीख यही है कि इतिहास हमें यह बताता है कि इस स्तर का परिवर्तन मुश्किल से ही शान्तिपूर्वक आता है। नवमार्क्सवादी सिद्धान्तकारों का यह मानना है कि विकास शान्तिपूर्ण तथा उद्विकासवादी प्रक्रिया नहीं है जैसा कि विकासवादी सिद्धान्तकार बताते हैं। नव–मार्क्सवादी इसके विपरीत क्रान्तिकारी आन्दोलनों के माध्यम से विकास लाने की बात करते हैं। उनके अनुसार विकास के मार्ग मे बाधा परम्परागत मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक प्रतिमान नहीं अपितु पश्चिमी देशों के हित तथा उनके अधीनस्थ एजेंट (Comprodores) हैं।

(ध) वर्ग (Class)

मार्क्सवादियों के लिए क्रान्तियाँ वर्गों के बीच संघर्ष है, जबकि विकासवादी अध्ययनों और समाजशास्त्र के दूसरे क्षेत्रों मे यह 'स्तरीकरण' के रुप में प्रस्फुटित होता हैं अतः मार्क्सवादी सिद्धान्तकार इसको पुनः स्थापित करने पर बल देते हैं। विशेष रुप से नव–मार्क्सवादियों ने चार वर्गों का अध्ययन किया है:

(1) बुर्जुआ वर्ग (Bourgeoisie)

(2) सर्वहारा वर्ग (Proletariat)

(3) गैर–श्रमिक वर्ग (Non-Working Class)

(4) कृषक वर्ग (Peasantry)

उन्होंने उन वर्गों के उद्भव, विशेषताओं, भूमिकाओं, तथा विकसित देशों मे उनके समान क्षमता रखने वाली श्रेणियों से तुलना तथा भेद किया है।

(य) आर्थिक व्यवस्था (Economy)

क्योंकि वर्ग का आधार आर्थिक है, अतः मार्क्सवाद आर्थिक क्षेत्र के बारे में कुछ विशेष कहता है। समाजशास्त्र के अन्य क्षेत्रों में जहाँ मार्क्सवाद को आर्थिक कारकों के महत्व बताने में उच्च स्थान

प्राप्त है वहीं कुछ विद्वानों ने विकास को मतैक्य के मापदण्ड पर देखा है। विकास प्रमुख रुप से आर्थिक है। नव–मार्क्सवाद का बिल्कुल अलग आर्थिक दृष्टिकोण है। इनका मॉडल परोपकारी सहायता प्रदान करने वाले मॉडल से भिन्न है। विशेष रुप से हेरोड– डोमर (Harrod-Domar) के अभिवृद्धि मॉडल (Growth Model) को ग्रेफिन (Griffin) के लेटिन अमेरिका पर किये गये अध्ययनों के आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया है, जिसका सुझाव है कि विदेशी पूंजी घरेलू बचत तथा पूंजी निर्माण दोनों को वास्तव मे नष्ट कर देती है।

पूंजीवाद की एकाधिकार वादी प्रवित्तयाँ अपने पूरे फलों सहित बहु–राष्ट्रीय कम्पनियों के रुप मे आती दिखायी पड़ती हैं। जिनकी संसाधनों का केन्द्रण तथा राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर कार्य करने की क्षमता उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे उन देशों के भाग्य को निर्धारित कर सके जिनका बजट इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बजट का एक अंश मात्र है।

परम्परागत मार्क्सवादी सिद्धान्त के विपरीत नवमार्क्सवाद की विशेषताएं

अनेकों नव–मार्क्सवादी लेखकों की सबसे प्रमुख विशेषता है कि वे परम्परागत मार्क्सवाद से वे बहुत कम उद्धरण देते हैं (आन्द्रे गुण्डर फ्रेंक इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं)। नव–मार्क्सवादी विश्व को खुले दिमाग से देखते हैं तथा मार्क्सवादी तत्वों को व्याख्या के रुप मे लाते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्तों से नव–मार्क्सवादी निम्न बिन्दुओं पर भिन्नता रखते हैं।

(अ) उपनिवेशवाद (Imperialism):– परम्परागत मार्क्सवाद में इसे अभी भी आधुनिक पूंजीवाद की विशेषता के रुप प्रयोग किया जाता है तथा विभिन्न उपनिवेशवादी शत्रुताओं का विश्लेषण किया जाता रहा है। परन्तु नव–मार्क्सवाद की विशेष रुचि उपनिवेशवाद की उस विशिष्ट प्रकृति में हैं जिसमें यह अपने शिकार के सामने प्रस्तुत होता है: यह उन्हें किस प्रकार से परिवर्तित करता है ; तथा इन्हें किस प्रकार से परास्त किया जा सकता है।

(ब) राष्ट्रवाद (Nationalism):– न केवल विकास के क्षेत्र में अपितु अन्य दूसरे क्षेत्रों में भी मार्क्सवाद एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण रखता है जिसके द्वारा अभी तक अविकसित अथवा अधीनस्थ समूह अपनी वास्तविकता को प्राप्त करते हैं तथा माओ के सरल परन्तु सुस्पष्ट शब्दों में स्वयं को स्थापित करने के लिए 'उठ खड़े' होते हैं। इस दृष्टिकोण से, ऐसी प्रत्यक्ष घटनाएं जैसे काले लोगों की शक्ति (Black Power), छात्र शक्ति (Student Power), महिला मुक्ति (Women's Liberation), समलिंग भोगी मुक्ति (Gay Liberation), तथा उपनिवेशवादी देशों में कृषक क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद (Peasant revolutionary nationalism), सभी एक ही प्रवृति के भाग है। मार्क्सवाद की यह नवीन अवधारणा संकीर्ण मार्क्सवादी प्रारुप से बहुत भिन्न है, जिसमें सिर्फ सर्वहारा को ही केन्द्रीय स्थान प्राप्त है जो सभी प्रकार के उत्पीड़नों के एक पुर्नजन्म के रुप में तथा परिपक्व पूंजीवाद के अर्न्तगत इसकी विशिष्ट भूमिका के द्वारा एक क्रान्ति उत्पन्न करता है, जो सामान्य मुक्ति के लिए पर्याप्त परन्तु आवश्यक शर्त भी है। हमें एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो उन प्रक्रियाओं का सामान्य विवरण प्रस्तुत करे तथा जिनके द्वारा व्यक्ति और समूह अपने विस्तृत 'आत्म' को कुछ निश्चित लक्षणों के रुप में परिभाषित करते हैं (उदाहरण के लिए, वर्ग, प्रजाति तथा राष्ट्र)।

(स) वर्ग (Classes):– यह समस्या नव–मार्क्सवाद में वर्ग–विश्लेषण को केन्द्रीय और जटिल प्रश्नों की ओर ले जाती है। वर्ग कोई साधारण विश्लेषण की श्रेणियों नहीं है, अपितु यह स्वयं में परिवर्तन का वाहक है। इसके अलावा वर्गों का अस्तित्व एक दूसरे के साथ उनके (गत्यात्मक) सम्बन्धों के द्वारा होता है। उपनिवेशवादी तथा नव–उपनिवेशवादी परिस्थितयों की यह विशेषता है कि विभिन्न उत्पादन–प्रणालियाँ एक दूसरे से मिलकर सम्बन्ध बनाते हुए एक साथ अस्तित्व में रहती हैं। इनमें से प्रत्येक अपने भीतर विरोधाभास उत्पन्न करता रहता है तथा एक दूसरे के साथ भी विरोधाभास उत्पन्न करती रहती है। इस प्रकार अन्त मे किसी भी वर्ग का विश्लेषण केवल वर्ग सम्बन्धों के ऐतिहासिक रुप से विशिष्ट समूहों के अर्थ में किया जा सकता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है परम्परागत मार्क्सवाद मे जहाँ केवल दो वर्गों की ही बात की जाती है वहीं नवमार्क्सवादी दृष्टिकोण एक समय मे कई परस्पर विरोधी वर्गो के अस्तित्व को भी मान्यता देता है।

(द) क्रान्ति (Revolution):– परम्परागत मार्क्सवाद मे वर्ग विश्लेषण में क्रान्ति को एक प्रक्रिया के रुप में देखा गया है। परन्तु नव–मार्क्सवादी रेगिस डेबरे (Regis Debray) ने क्रान्तिकारी सिद्धान्त को उलट दिया है तथा गुरिल्ला समूहों से इसे प्रतिस्थापित करते हुए इसे एक ऐसी चिंगारी बताया है जो वर्ग चेतना को प्रारम्भ करती है, जबकि परम्परागत मार्क्सवाद मे वर्ग चेतना वर्गो के स्वयं के संगठित संघर्ष से उत्पन्न होती है।

(य) कम्यूनिज्म (Communism):– कम्यूनिज्म के विषय में भी मार्क्सवादी और नव–मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों में मतभेद है। जहाँ परम्परागत मार्क्सवादी सिद्धान्तकार कम्यूनिज्म को अपना परम लक्ष्य मानते हैं वहीं नव–मार्क्सवादी इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इतनी दृढ़ता प्रदर्शित नहीं करते।

(र) नैतिकता तथा क्रिया (Morals and Actions):– नवमार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विशेषता की अपेक्षा व्यवहारिक विशेषता इसका स्व–रुपान्तरण (Self-Transformation) की आवश्यकता तथा सम्भावना पर बल देना है।

(ल) नगर तथा गाँव (Town and Country):– नव–मार्क्सवादी गाँव और नगर के बीच में भी शोषणवादी सम्बन्धों को देखते हैं। उनके अनुसार नगरों का विकास गाँवों की कीमत पर होता है, जबकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण में किसानों को उत्पीड़ित वर्ग के रुप में नहीं देखा गया है और नगरों के औद्योगिक विकास की ओर बढ़ने पर जोर दिया गया है।

(ह) परिस्थितिकी (Ecology):– परम्परागत मार्क्सवादी जहाँ भारी उद्योगों द्वारा उत्पादन पर बल देते हुए यह भूल जाते हैं कि इसके द्वारा पर्यावरण में प्रदूषण की बढ़ोतरी होती है तथा एक दिन सभी प्राकृतिक संसांधन समाप्ति की ओर बढ़ सकते हैं। यदि सभी राष्ट्रों में तीव्र गति से औद्योगिकीकरण होता रहा तो पर्यावरण मे प्रदूषण की सम्भावनाएं बढ़ जायेंगी। अतः नव–मार्क्स वादी सिद्धान्तकार ऐसी तकनीकियों को विकसित करने पर बल देते है जो पर्यावरण में प्रदूषण न फैलाती हों।

अतः स्पष्ट है कि नव–मार्क्सवादी सिद्धान्तकार परम्परागत मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों से भिन्न मत रखते हैं।

विकास का निर्भरता सिद्धांत

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात औपनिवेशिक सिद्धांत के नवीनीकरण में पॉल बेरन (Paul Baran) के कार्य को अति महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने इसके अंदर ऐसे परिवर्तन किए जिसके फलस्वरूप औपनिवेशिक सिद्धांत को एक नया रूप देना संभव हो सका तथा इसे निर्भरता सिद्धांत का प्रारंभिक स्वरूप भी कहा जा सकता है। पॉल बेरन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु, जो हमें सीधे निर्भरता सिद्धांत की ओर ले जाते हैं (विशेषकर फ्रैंकवादियों के प्रथम समूह की ओर) निम्नलिखित हैं।

प्रथमः– पॉल बेरन ने अल्पविकसित विश्व (Underdeveloped World) के विश्लेषण के प्रति एक नवीन अभिरुचि जागृत की, यह एक ऐसा पक्ष था, जिसका औपनिवेशिक सिद्धांत में सर्वथा अभाव था।

द्वितीयः– उन्होंने (राष्ट्रों के) पिछड़ेपन को औपनिवेशिक परिस्थिति से जोड़ना बंद कर दिया परंतु राष्ट्रों के पिछड़ेपन पर स्वतंत्र रूप से विचार करने पर बल दिया।

तृतीयः– उन्होंने इस विचार को भी तिलांजली दे दी कि राष्ट्रों का पिछड़ापन पूंजीवाद से पूर्व की (सामाजिक) संरचनाओं अथवा उत्पादन–पद्धतियों का परिणाम है तथा यह विचार प्रस्तुत किया कि यह एक विशेष प्रकार के पूंजीवादी विकास का परिणाम है।

चतुर्थः– विश्व–व्यवस्था के रूप में, पूंजीवाद को एक सजातीय (homogeneous) श्रेणी नहीं माना जाना चाहिए, अपितु इसके विपरीत यह एक विश्व–व्यापी संस्तरणीकृत व्यवस्था का निर्माण करती है, जिसमें अधिक विकसित देश, कम विकसित देशों का शोषण करते हैं।

पंचमः– कम–विकसित देशों के शोषण में उनके आर्थिक–अतिरिक्त (economic surplus) के एक भाग का विकसित विश्व को स्थानान्तरण होना है तथा इसके दूसरे भाग का उपभोग इन पिछड़े देशों के स्थानीय कुलीन वर्ग द्वारा अपनी विलासिता में किया जाता रहा है। अपने आर्थिक–अतिरिक्त की इस हानि तथा दुरुपयोग के कारण ये पिछड़े देश अल्प–विकसित (Underdeveloped) बन गये।

षष्ठः– औपनिवेशवाद, पिछड़े देशों के औद्योगिक विकास का विरोधी है तथा इस कारण से ही यह स्थानीय स्तर के कारक पूंजीवादी तत्वों (Comprador bourgeosies) के साथ गठजोड़ कर लेता है। (उदाहरण– ब्रिटिश भारत में जमींदारों तथा महाजनों के साथ मिलकर आर्थिक–अतिरिक्त का शोषण)।

सप्तमः– अपनी नवीन एकाकिधारिक अवस्था (Monopolistic Phase) में पूंजीवाद अब एक विस्तारवादी तथा परिवर्तनीय शक्ति नहीं रह गया है, अपितु यह एक ठहराव को उत्पन्न कर देता है, विशेष रुप से कम–विकसित देशों के संदर्भ में। इसके फलस्वरूप इन देशों के समक्ष एकमात्र विकल्प यह रह जाता है कि वे पूंजीवाद से दूरी बना लें तथा विकास के समाजवादी पथ की ओर अग्रसर हों।

द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद प्रतिपादित पॉल बेरन के इस सिद्धांत के महत्वपूर्ण होने के बाद भी अकादमिक क्षेत्र में यह कुछ समय तक उपेक्षित ही रहा। इसका महत्व उस समय प्रकट हुआ जब 1960 के दशक के अन्त में आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक (Andre Gunder Frank) ने लैटिन अमेरिकी देशों

के विश्लेषण में बेरन के विचारों एवं उपरोक्त प्रस्थापनाओं को आधार बनाते हुए इसका विस्तार किया तथा पॉल बेरन के विचारों को लोकप्रियता दिलायी।

आन्द्रे गुन्डर फ्रैंकः अल्प–विकास का विकास (Andre Gunder Frank: The Development of Underdevelopment)

आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक अपने विश्लेषण का प्रारम्भ इस विचार के साथ करते हैं कि पूंजीवाद का विस्तार यूरोप से प्रारम्भ हुआ तथा उसने पूरे विश्व को एक अर्न्तराष्ट्रीय व्यवस्था के अर्न्तगत समाहित कर लिया। "यह व्यवस्था मैट्रोपोलिसिस (Metropolises) तथा उपग्रह (Satellites) की एक सम्पूर्ण श्रंखला में विभाजित है, जो विश्व मैट्रोपोलिस से हेसिएन्डा* (hacienda) अथवा ग्रामीण व्यापारियों तक जाती है जो स्थानीय मैट्रोपोलिटन केन्द्र के उपग्रह हैं तथा वे बदले में ग्रामीणों को अपना उपग्रह बना लेते हैं" (फ्रैंक 1969:146–7)। यहाँ फ्रैंक ने 'मैट्रोपोलिस' तथा 'उपग्रह' को केन्द्र व परिधि के रुप में देखा है। जिसमें केन्द्रीय इकाई द्वारा परिधीय इकाई का शोषण किया जाता है। यह व्यवस्था विश्व स्तर से लेकर निम्नतम स्तर तक पहुँचती है। जिसमें से प्रत्येक केन्द्रीय इकाई अपनी परिधीय इकाई का शोषण करती है।

इस प्रकार से सम्पूर्ण व्यवस्था में एक एकाधिकार–वादी संरचना का निर्माण होता है। जिसमें पूरी व्यवस्था में संसाधनों का दुरुपयोग तथा व्यर्थ में खर्च किया जाता है। दुरुपयोग का एक महत्वपूर्ण स्वरुप स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय अथवा अर्न्तराष्ट्रीय मैट्रोपोलिस द्वारा अपने–अपने उपग्रहों के आर्थिक–अतिरिक्त के एक भाग, अथवा सम्पूर्ण भाग अथवा सम्पूर्ण से भी अधिक मात्रा को या तो बाहर ले जाया जाता है (Expropriation) अथवा उसको अपने अधिकार में ले लिया जाता है (Appropriation)। अन्ततः यह प्रमुख औपनिवेशिक शक्ति ही होती है जो 'मैट्रोपोलिस–सैटेलाइट' की सम्पूर्ण श्रृंखला के संसाधनों पर अपना अधिकार स्थापित कर लेती है। इस प्रकार से, उदाहरण के रुप में, फ्रैंक ने यह दर्शाया है कि ब्राजील के सन्दर्भ में 1947 से 1960 के मध्य (संयुक्त राज्य अमेरिका को) 16667 मिलियन डालर की कुल पूंजी बाहर ले जायी गयी" (फ्रैंक 1970:150)। इसी प्रकार की समानताएँ लैटिन अमेरिका के अन्य देशों तथा अल्प–विकसित विश्व में भी देखी जा सकती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था से दो परिणाम उत्पन्न होते हैं:–

1. पूंजीवादी विस्तार की ऐतिहासिक प्रक्रिया मैट्रोपोलिस के निरन्तर विकास तथा उपग्रहों के निरन्तर अल्प–विकास को उत्पन्न करती है।
2. मैट्रोपोलिस का विकास आवश्यक रुप से उपग्रह का अल्प–विकास करता है अथवा फ्रैंक के शब्दों में –"Development of under-development each cause and caused by the other in the total development of Capitalism" (फ्रैंक 1969:240)।

मैट्रोपोलिस व सैटेलाइट (उपग्रह) के परस्पर संबंध में निम्नलिखित पक्ष सम्मिलित होते हैं:–

1. उपग्रह की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संरचनाएँ अपने मैट्रोपोलिस से निकट रुप से सम्बद्ध रहती हैं।
2. एक राष्ट्रीय स्तर का मैट्रोपोलिस, जो उसी समय स्वयं अर्न्तराष्ट्रीय स्तर के मैट्रोपोलिस का उपग्रह होता है, उसका स्वायत्त विकास (Autonomous development) असम्भव है।

3. मैट्रोपोलिस तथा सैटेलाइट के मध्य सम्बन्ध जितने क्षीण होंगे, स्वायत्त विकास की सम्भावना उतनी ही प्रबल होगी।
4. मैट्रोपोलिस तथा सैटेलाइट के मध्य सम्बन्ध जितने दृढ़ होंगे, सैटेलाइट में अल्प–विकास की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। अतः, सैटेलाइट्स कभी भी सही प्रकार से विकसित नहीं हो सकते। उनमें विभिन्न मात्रा में अल्प–विकास ही हो सकता है।

अतः अल्प–विकास को विकास की पूर्व–अवस्था नहीं माना जा सकता, न ही इसे "विकास का अभाव" ही कहा जा सकता है। "अल्प–विकास का विकास (विकसित देशों के) आर्थिक विकास के साथ–साथ होता है तथा यह अभी भी हो रहा है" (फ्रैंक 1969 : 232)।

यही वह प्रस्थापनाएँ हैं जिन्हें फ्रैंक ने 'अल्प–विकास का विकास' कहा है। उनकी यह शोधकार्य चिली तथा ब्राजील के ऐतिहासिक विश्लेषण पर आधारित है। मूल रुप से फ्रैंक यह दर्शाना चाहते हैं कि शेष लैटिन अमेरिका की भाँति, ये दोनों देश भी सोलहवीं शताब्दी से ही 'इबेरियन' (Iberian) तथा यूरोपियन मैट्रोपोलिस के सैटेलाइट बन चुके थे। जो कि पूर्ण रुप से पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ थी, इन देशों का अल्प–विकास उसी समय से प्रारम्भ हो गया जिस क्षण वे उपनिवेश बन गये थे। ऐसी ही स्थिति हम ब्रिटिश साम्राज्य के भारत में आगमन के समय से देख सकते हैं।

फ्रैंक ने इस सिद्धान्त को बलपूर्वक अस्वीकृत किया है कि कृषि क्षेत्र अथवा लैटिन अमेरिका के किसी अन्य भाग को "सामन्तवादी" (Feudal) अथवा "पूंजीवाद की पूर्व–अवस्था" (Pre-capitalist) समझा जा सकता है। उन्होंने इस विचार को भी अस्वीकृत किया है कि लैटिन अमेरिका में "दोहरे समाजों" (dual societies) का अस्तित्व पाया जाता है, जिनमें आधुनिक पूंजीवादी संरचनाएँ परम्परागत "बन्द", पूर्व–पूंजीवादी क्षेत्रों के साथ मिश्रित हो गयी हैं। इन विचारों का स्रोत विभिन्न विशेषताओं वाली व्यवस्था से उपजा हुआ भ्रम है। इससे भी अधिक सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति के बारे में फैला हुआ भ्रम है। जिन्हें सामन्तवादी अथवा पूर्व–पूंजीवादी संरचनाएँ कहा जा रहा है, वे तो वास्तव में अल्प–विकसित पूंजीवाद (Underdeveloped Capitalism) के परिणाम हैं।

अपने बाद के शोध में फ्रैंक ने उत्पादन के विभिन्न प्रकारों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जिनका निर्माण विभिन्न उपनिवेशों में हुआ, परन्तु वे आज भी इस बात पर बल देते हैं कि उनका विश्लेषण व परीक्षण विश्व स्तर पर पूंजी–संचयन (Capital accumulation) की ऐतिहासिक प्रक्रिया से किया जाना चाहिए, जो कि नवीन विश्व में अनेकों प्रक्रियाओं की संचालन शक्ति (drivng force) है। (फ्रैंक 1978 : 43 एवं 43–69)।

पूंजी संचयन की इस प्रक्रिया का विवरण देते हुए फ्रैंक ने इस विचार को प्रस्तुत किया कि "That it is partly based on a super exploitation of the labour power through excess surplus value, which denies the labourer even the minimum necessary substance…, this less than subsistence super exploitation occurs both through wage labour and through other relations of production (Frank 1978 : 248)

"यह अंशतः अत्यधिक अतिरिक्त–मूल्य द्वारा श्रम शक्ति के अति–शोषण पर आधारित है, जो कि श्रमिकों की जीवन निर्वाह करने हेतु आवश्यक न्यूनतम जीवन दशाओं को भी नकारता है.....; इस प्रकार का अति–शोषण मजदूरी के माध्यम से तथा उत्पादन के अन्य सम्बन्धों के द्वारा होता है।"

यह धारणा फ्रैंक के उन अनुयायियों के लिए महत्वपूर्ण है जो मानते हैं कि श्रमिकों का अत्यधिक शोषण (Hyper-exploitation) निर्भरवादी–पूंजीवाद (Dependent Capitalism) के लिए मूलभूत तत्व है तथा केंद्रीय देशों पर पूंजी के संचयन के लिए भी महत्वपूर्ण हैं।

निर्भर–राष्ट्रों में श्रमिकों का अति–शोषण खाद्य–सामग्री के निर्यात को सस्ता कर देता है तथा इस प्रकार से केंद्रीय देशों में श्रम के उत्पादन–मूल्य को कम करने की दशाएँ उत्पन्न कर देता है। क्योंकि अति–शोषण का अर्थ है कि यह स्थानीय श्रमिक वर्ग को प्रयोगिक रूप से उत्पादों के उपभोग से वर्जित कर देता है तथा उपभोग के दो क्षेत्रों का निर्माण करता हैः सत्ता वर्ग के कुछ व्यक्तियों द्वारा विलासिता पूर्वक किया जाने वाला उपभोग (Luxury Consumpation) तथा अधिकतर श्रमिकों द्वारा मात्र निर्वाह करने योग्य उपभोग व जीवन–दशाएँ।

फ्रैंक का उत्पादन द्वारा पूर्व–पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विश्लेषण के इस उपागम के महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हैं क्योंकि विकास के लिए संघर्ष पूर्व–पूंजीवादी संरचनाओं अथवा सामन्तवाद का उन्मूलन करने की त्रुटिपूर्ण व्यूह–रचना पर आधारित नहीं हो सकता, जो कि पूंजीवादी संचयन व्यवस्था का एक भाग होने के कारण अस्तित्व ही नहीं रखती। यदि अल्प–विकास किसी भी दशा में पूंजीवाद का परिणाम है तो इसे नष्ट करने की आवश्यकता है। अतः फ्रैंक उन सभी पूंजीवादी लेखकों का विरोधी है जो इन देशों में उसी प्रकार की प्रक्रिया से विकास चाहते हैं जैसा कि यूरोप के देशों में हुआ था, लेकिन फ्रैंक ब्राजील की कम्युनिस्ट पार्टियों का भी विरोधी है जिन्होंने अपना कार्यक्रम पूंजीवादी शक्तियों से गठजोड़ करके बनाया है तथा जिनका यह मानना है कि पूंजीवादी–क्रांति होना अभी शेष है. (फ्रैंक 1969 : 270)।

उनके अध्ययन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि "राष्ट्रीय पूंजीपति किसी भी प्रकार से लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों को अन्य विकास की स्थिति से ना तो लाते हैं और ना ही ला सकते हैं" (फ्रैंक 1969 : XV)।

इस विवेचन के आधार पर राजनीतिक दृष्टि से निम्न बिंदु सामने आते हैंः–

प्रथमः– विकास केवल समाजवादी पद्धति से ही लाना संभव है।

द्वितीयः– उसी कारण से संयुक्त राज्य अमेरिका सदैव ही अल्पविकसित देशों के विकास हेतु किए जाने वाले प्रयत्नों का विरोध करता है।

तृतीयः– व्यूह रचना के आधार पर विकास का तत्कालिक शत्रु लैटिन अमेरिका के स्थानीय पूंजीपति हैं, परंतु प्रमुख शत्रु संयुक्त राज्य अमेरिका है।

चतुर्थः– नव–उपनिवेशवादी निर्भरता तथा परिणामतः उत्पन्न वर्ग संरचना दोनों को सुधारों द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता अपितु इसके लिए एक क्रांति लाने की आवश्यकता है।

फ्रैंक के अनुसार, इस क्रांतिकारी प्रक्रिया के दो आवश्यक पक्ष हैः एक ओर, शक्ति का आंतरिक हस्तांतरण व लोकप्रिय जन सहभागिता का विस्तार तथा दूसरी ओर, असंबद्धता की प्रक्रिया द्वारा बाह्य निर्भरता को समाप्त करना तथा स्वतंत्र रुप से निर्णय करना।

आंन्द्रे गुण्डर फ्रैंक के उपरोक्त क्रांतिकारी विचारों ने समाज विज्ञान में विकास की प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे विद्वानों में एक हलचल पैदा कर दी। जहाँ उन्होंने एक और आधुनिकतावादी विचारकों की उनके पूंजीवादी प्रारूप की आलोचना की तो वहीं उन्होंने रूढ़िवादी मार्क्सवादियों की भी आलोचना की है। उनकी अल्प–विकास की अवधारणा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई तथा अन्य

नव–मार्क्सवादी विद्वानों ने लैटिन अमेरिकी देशों का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए इस सिद्धांत को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसे ही एक समाज वैज्ञानिक इमैनुअल वालेरस्टीन हैं जिन्होंने इस अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए "विश्व व्यवस्था सिद्धांत" (World system Theory) का प्रतिपादन किया।

"विश्व व्यवस्था सिद्धांत" (World system Theory)

इमैनुअल वालेरस्टीन का जन्म 1930 में न्यूयार्क में हुआ था। वहीं उनका बचपन बीता। उनकी शिक्षा कोलंबिया विश्वविद्यालय (अमेरिका) में हुई जहाँ से उन्होंने 1951 में बी० ए० तथा 1959 में एम० ए० व पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त की तथा वहीं पर उन्होंने अध्यापन कार्य शुरु कर दिया। 1960 के दौरान उनकी रुचि अफ्रीकी राजनीति में हो गयी, विशेष रुप से द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात होने वाले राजनीतिक संघर्ष में। 1971 से उन्होंने समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रुप में मैक–गिल यूनिवर्सिटी में पाँच वर्षों के लिए कार्य किया। तत्पश्चात वे बिघंमटन यूनिवर्सिटी न्यूयार्क (Binghamton University, New York) में समाजशास्त्र के प्रमुख प्रोफेसर हो गये। यहीं पर उन्होंने अपनी दो प्रमुख पुस्तकें लिखीं। इनका प्रमुख विषय 'आधुनिक विश्व व्यवस्था' था। इन्होंने "सेन्टर फार दी स्टडी ऑफ इकोनोमिज, हिस्टोरिकल सिस्टम्स एण्ड सिविलाइजेशन" नामक संस्थान की स्थापना की। 2005 तक आप इसके निदेशक पद पर कार्य करते रहे। तत्पश्चात आप अनेकों विश्वविद्यालयों व संस्थानों में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में कार्य करते रहे। आप अर्न्तराष्ट्रीय समाजशास्त्र संघ के अध्यक्ष पद पर 1994–97 तथा 1998–2004 में चार–चार वर्षों तक आसीन रहें। 31 अगस्त 2019 को आपका निधन हो गया।

वालेरस्टीन यद्यपि एक समाजशास्त्री थे परंतु, अपने अध्ययनों में उन्होंने अर्न्तनुशासनीय उपागम (Interdisciplinary approach) का अनुसरण किया। अधिकतर लोग इसी कारण से उन्हें इकोनामिक अथवा सोशल हिस्टोरियन समझते थे। उनकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तकें तीन खंडों में प्रकाशित हुई। इन सभी का प्रमुख शीर्षक था "मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम"। इसके प्रथम खंड का उप–शीर्षक था– *केपेटलिस्ट एग्रीकल्चर एण्ड दी ओरिजन्स ऑफ यूरोपियन वर्ल्ड इकोनोमी इन दी सिक्सटीन्थ सेंचुरी* (1974)। दूसरे खण्ड का उपशीर्षक था *मर्केन्टेलिज्म एण्ड दी कंसोलिडेशन ऑफ दी यूरोपियन वर्ल्ड इकोनोमी 1600–1750* (1980)। तथा तीसरे खण्ड का शीर्षक था– *दी सेकेन्ड ग्रेट एक्सपेंशन ऑफ दी केपिटलिस्ट वर्ल्ड इकॉनोमी, 1730–1840.* (1989)। वर्ष 2000 से उन्होंने अपने उपागम द्वारा भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या प्रस्तुत करने का कार्य भी किया।

वालेरस्टीन ने फ्रैंक के विश्व–व्यवस्था सम्बन्धी विचारों का गहनता से अध्ययन किया। उन्होंने फ्रैंक की इस धारणा, कि मेट्रोपोलिस का अस्तित्व सैटेलाइट्स के अल्प–विकास के द्वारा ही संभव हो पाया है (आर्थिक–अतिरिक्त के स्थानांतरण की प्रक्रिया के माध्यम से) का न केवल समर्थन किया अपितु अपने शोध कार्य द्वारा इसको विस्तृत रूप से विकसित भी किया। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को "विश्व–व्यवस्था सिद्धांत" के नाम से जाना जाता है। इसकी विस्तृत व्याख्या उन्होंने अपने तीन खण्डों वाली पुस्तक "आधुनिक विश्व व्यवस्था" में प्रस्तुत की। उनका यह सिद्धांत न केवल विकास के समाजशास्त्र में एक विशिष्ट स्थान रखता है अपितु वैश्वीकरण के सिद्धांतकार इसे वैश्वीकरण पर एक

महत्वपूर्ण पूर्व–रचना के रूप में भी देखते हैं। अपनी बाद की पुस्तकों में वालेरस्टीन ने वैश्वीकरण पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं।

अल्पविकास की व्यवस्था के उदाहरण के तौर पर चाय बागान में कार्य करने वाले श्रमिकों को प्राय बंधुआ मजदूरों के रुप में शिविरों (Camps) में रखा जाता था। ये प्रायः सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों से बहला–फुसला कर लाये जाते थे। इन्हें मुख्य रुप से बागानी के कार्य में लगाया जाता था। चाय के पौधे की पत्तियों को तोड़ने के लिए कोमल हाथों की आवश्यकता होती है अतः पत्ती तोड़ने के कार्य में इन्हें अस्थायी रुप से लगाया जाता था। अतः इन बंधुआ मजदूरों को अपने परिवार स्थापित करने की छूट भी दी जाती थी। परन्तु इनको शोषणकारी अवस्था में शिविरों में रखा जाता था। वहीं चाय की फैक्ट्री में मजदूरों को दिहाड़ी मजदूर के रुप में, कुछ प्रशासनिक स्टाफ जैसे मैनेजर, एकाऊंटेंट, सुपरवाइजर आदि भी होते थे जो आधुनिक नौकरशाही की तर्ज पर काम कर रहे होते थे।

यह व्यवस्था पुरानी पूर्व–पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से अलग थी जो स्थानीय अर्थव्यवस्था के लिए उत्पादन करती थी, परन्तु यह व्यवस्था पूंजीवादी विश्व–व्यवस्था के लिए उत्पादन करती थी तथा उससे पूर्णरुप से एकीकृत थी; तथा ये सभी समान रुप से "पूंजीवादी" थीं। उदाहरण के तौर पर, एक चाय बागान में पौधों को उगाने का कार्य खेती की भाँति दिखायी पड़ता है परन्तु वास्तव में यह पूंजीवादी विश्व–व्यवस्था का सबसे निचले स्तर का भाग होता है। अन्ततः इसके उत्पाद विश्व–बाजार में बिकते हैं। इनको स्थानीय स्तर पर सीधे नहीं बेचा जाता था। आज भी लगभग 90% उत्पाद बाहर भेजे जाते हैं। जहाँ पर उनकी नीलामी की जाती है। जिन्हें उपभोक्ता विभिन्न ब्रांडो के उत्पाद के रुप में खरीदता है। इन ब्रांडेड कम्पनियों के अपने कोई बागान नहीं होते हैं। परन्तु यहाँ हम उनके मूल विचारों की चर्चा करेंगे जो विकास के निर्भरता सिद्धांत का एक प्रमुख भाग है।

वालेरस्टीन के लिए पूंजीवादी विश्व–व्यवस्था का रचना सोलहवीं शताब्दी में यूरोपियन पूंजीवाद के विस्तार के साथ की गयी। इस विस्तार में "असमान विकास (Unequal Development) सम्मिलित था अतः एक ऐसी व्यवस्था ने जन्म लिया जो विभेदीकृत पुरुस्कारों (Differential Rewards) तथा असमान विकास का एक बहु–स्तरीय प्रारुप (Multi-layered format) थी, इनमें से प्रत्येक स्तर द्विबहुलक बंटन अथवा विभेदीकरण (Bimodal Distribution) के अर्थ में ध्रुवीकृत था। यूरोपियन आर्थिक व्यवस्था का अर्न्तभाग (Core) तथा इसके परिधिय क्षेत्रों (peripheral areas), तथा संस्तरण के मध्य भी इसी प्रकार का द्वि–बहुलक विभेदीकरण था" (वालेरस्टीन 1974 : 86)।

इस प्रकार से विभेदीकृत विश्व अर्थव्यवस्था में विभिन्न प्रकार के श्रमिक समाहित थे, बागानों में काम करने वाले दासों (Slaves) और बड़े क्षेत्रों में काम करने वाले बंधुवा मजदूरों (Surfs) से लेकर कारखानों में काम करने वाले दिहाड़ी मजदूरों तक। श्रमिकों को संगठित तथा नियन्त्रित करने हेतु विभिन्न प्रकार की उत्पादन–प्रणालियाँ प्रचलन में थी क्योंकि उनमें से प्रत्येक प्रणाली किसी एक विशेष प्रकार के उत्पादन के लिए उपयुक्त समझी जाती थी परन्तु वे विभिन्न उत्पादन–प्रणालियों के आधार का निर्माण नहीं करते थे तथा इन उत्पादन प्रणालियों के मध्य सह–सम्बन्धों का अस्तित्व भी था।

ऐसा नहीं है कि सामाजिक संगठन के दो स्वरुप–पूंजीवादी तथा सामन्तवादी–परस्पर सह–अस्तित्व रखते थे अथवा कभी भी इस प्रकार से अस्तित्व में आ सकेंगे। विश्व अर्थव्यवस्था में या तो सामन्तवादी व्यवस्था होगी अथवा पूंजीवादी व्यवस्था होगी। दोनों में से एक का ही अस्तित्व रहेगा।

एक बार जब यह पूंजीवादी हो जाती है तो ऐसे सम्बन्ध जिनमें सामन्ती व्यवस्था से कुछ समानता दिखायी देती है, आवश्यक रुप से एक पूंजीवादी व्यवस्था के सन्दर्भ में पुर्नपरिभाषित हो जाते हैं। इस विरोध पर कि यदि विश्व के विभिन्न भागों में, हम दास अथवा श्रमिकों को सेवकों के रुप में पाते हैं, तब वह आवश्यक रुप से स्थानीय दास अथवा सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली का परिणाम होनी चाहिये। इसका उत्तर देते हुए वालेरस्टीन विश्लेषण की इकाई के बारे में एक प्रश्न करते हुए देते हैं:–

"क्या इंग्लैड अथवा मेक्सिको अथवा वेस्ट इंडीज विश्लेषण की इकाई है? अथवा 'इंग्लैड व मेक्सिको सहित यूरोपीय विश्व–अर्थव्यवस्था इकाई (16वीं–18वीं शताब्दी के लिए) है? इस विश्व–अर्थव्यवस्था की उत्पादन प्रणाली क्या थीं?

जहाँ एक ओर, विशिष्ट सामाजिक संगठन से अर्न्तराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की दिशा में विश्लेषण की इकाई में परिवर्तन है। वहीं दूसरी ओर, (जैसा कि फ्रैंक के विश्लेषण में भी है) उत्पादन प्रणाली का निर्णयात्मक पारिभाषिक तत्व क्या है? यह उत्पादन के संबंधों की विशिष्ट व्यवस्था नहीं अपितु बाजार का रुझान तथा लाभ अभिप्रेरण (Profit Motivation) है।

यदि दासों के उत्पादन का रुझान लाभ प्राप्त करने हेतु बाजार की ओर है तब यह पूंजीवाद का एक स्वरुप बन जाता है। वालेरस्टीन ने इसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया है:–

"Not all these capitalist 'forms' were based on 'free labur' - only those in the core economy, but the motivation of land lords and labourers in the 'non-free' sector were as capitalist as those in the core."

''इन पूंजीवादी स्वरुपों में से सभी 'मुक्त श्रम' पर आधारित नहीं थे। केवल वही जो अर्थव्यवस्था के अर्न्तभाग में थे। परन्तु 'अमुक्त श्रम क्षेत्र' में जमींदारों तथा श्रमिकों की अभिप्रेरणाएँ भी उतनी ही पूंजीवादी थी जितनी कि अर्न्तभाग में''।

यद्यपि वालेरस्टीन न केवल फ्रैंकियन मॉडल को सामान्यीकृत करने का प्रयास करता है, साथ ही वह उसमें कुछ परिवर्तन भी करता है जो इसको अपेक्षाकृत अधिक लचीला बना देते हैं। जैसे, 'मेट्रोपेलिस–सैटेलाइट' दो विरोधाभासी श्रेणियों के स्थान पर वालेरस्टीन ने विश्व–अर्थव्यवस्था को तीन संरचनात्मक क्षेत्रों में विभाजित किया है, वे हैं– अर्न्तभाग (the core), अर्द्ध–परिधि (semi-periphery), तथा परिधि (priphery)। इनके विषय में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इनकी स्थिति हमेशा के लिए स्थिर नहीं है क्योंकि कुछ क्षेत्रों की आर्थिक गतिविधियों में प्रगति होती है तो वहीं अन्य में, आर्थिक गतिविधियों में गिरावट आ जाती है। यद्यपि विभिन्न राष्ट्रों की स्थिति में विश्व–व्यवस्था के अर्न्तगत परिवर्तन होने के बाद भी (अर्न्तभाग से परिधि या अर्ध–परिधि से परिधि या इसके विपरीत) सम्पूर्ण व्यवस्था की प्रकृति परिवर्तित नहीं होती। इस प्रकार के परिवर्तन अमुक राष्ट्र के लिए "विकास" अथवा "प्रतिगमन" (Regression) कहें जायेंगे। यहाँ नोट करने योग्य मूल कारक यह है कि पूंजीवादी विश्व–अर्थव्यवस्था के अर्न्तगत, पारिभाषिक रुप से सभी राष्ट्रों का विकास एक ही समय में नहीं हो सकता क्योंकि सम्पूर्ण व्यवस्था का कार्य–सम्पादन ही इस प्रकार से होता है कि जिसमें अर्न्तभाग तथा परिधि–क्षेत्र असमान होते हैं।" अर्न्तभाग तथा परिधि के मध्य सम्बन्धों को शोषण सम्बन्धों के रुप में समझा जाना चाहिये जिसके द्वारा अर्न्तभाग, परिधि क्षेत्र में उत्पादित अतिरिक्त को ले लेता है। वालेरस्टीन का तर्क है कि भूतकाल में सभी साम्राज्यों में शुल्क (tribute) वसूली की व्यवस्था होती थी तथा आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था, अपने विशुद्ध आर्थिक तन्त्र से उत्पाद–अतिरिक्त को

ले जाने का एक वैकल्पिक तथा अधिक लाभकारी स्रोत्र प्रस्तुत करती है। परिधि से अर्न्तभाग को उत्पादन–अतिरिक्त का बहाव अर्न्तराष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा राजनीतिक शक्ति के माध्यम से संरक्षित किया जाता है। अर्न्तभाग में ऐसे कार्यों का सान्द्रणध्एकत्रीकरण (concentration) किया जाता है जिनको करने के लिए उच्च कोटि के कौशलों व अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तथा इसके फलस्वरुप इनमें पुरुस्कारों की अभिवृद्धि (वेतन व सुविधाओं के रुप में) भी होती है।

इसके अतिरिक्त अर्न्तभाग एक "दृढ़ राज्य तंत्र" को भी विकसित करता है जो विश्व–व्यवस्था के अन्दर उत्पन्न होने वाली असमानताओं को संरक्षित करने का कार्य करता है। उत्पादन–अतिरिक्त के परिधि से अर्न्तभाग को स्थानान्तरण का सहज परिणाम यह होता है कि इससे प्रथम (परिधि क्षेत्र) अल्प–विकसित हो जाता है बाद वाला भाग (अर्न्तभाग) का विकास हो जाता है। जैसा कि फ्रैंक के सिद्धांत में भी देखा जा सकता है कि विकास तथा अल्प–विकास परस्पर एक–दूसरे का कारण है तथा समान पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के परिचालन के आवश्यक परिणाम हैं।

फ्रैंक तथा वालेरस्टीन के सिद्धांतों में पूंजीवाद के आधार के रुप में विश्व अर्थव्यवस्था की इस भाँति की व्याख्या आवश्यक रुप से वर्ग संघर्ष की भूमिका को प्रभावित करती है। यद्यपि इसके निर्माण में विश्व अर्थव्यवस्था की सामान्य प्रकृति तथा व्यापार की प्राथमिकता को देखते हुए वर्ग संघर्ष की भूमिका इतनी केन्द्रीय नहीं है जितनी कि मार्क्स के विश्लेषण में दिखायी पड़ती है। फिर भी वालेरस्टीन इसको एक बड़े ही सामान्य तरीके के रुप में व्यवस्था से लाभान्वित लघु समूहों तथा इससे उत्पीड़ित बड़े समूहों के मध्य संघर्ष के रुप में देखते हैं।

संघर्ष का यह सामान्य स्वरुप विभिन्न प्रकार से उजागर होता है। पूंजी तथा श्रम के मध्य संघर्ष इनमें से एक है। परन्तु लम्बे–काल तथा बड़े स्तर पर होने वाले विचार–विमर्शों के फलस्वरुप यह कमजोर हो जाता है। वालेरस्टीन का मानना है कि हमें केवल वर्ग संघर्ष पर ही नहीं ध्यान देना चाहिये। ऐसा करने से अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक संघर्ष जो इस पूंजीवाद के फलस्वरुप उत्पन्न होते है, उन पर से हमारा ध्यान हट जायेगा।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि जहां आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक ने अल्प–विकास की अवधारणा के माध्यम से विकास के निर्भरता सिद्धांत को प्रस्तुत किया, वहीं वालेरस्टीन ने इस सिद्धांत की आगे व्याख्या करते हुए इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किये तथा उसे अधिक लचीला भी बना दिया।

अरगहिरी इमेनुअल का असमान–वितरण का सिद्धान्त (Arghiri Emmanuel's Theory of Unequal Exchange)

अरगहिरी इमेनुअल (1911–2001) का जन्म ग्रीस के पेट्रास शहर में हुआ था। उनके प्रारम्भिक जीवन के बारे में कोई अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उन्होंने 1930 में एथेन्स विश्वविद्यालय से हाई स्कूल पास किया तथा विधि–स्नातक की उपाधि भी प्राप्त की। 1942 में वह मध्य–पूर्व में ग्रीक लिबरेशन फोर्स में एक वालिंटियर के रुप में कार्य करने गये। वहाँ उन्होंने कई मिलिट्री आपरेशन में भी भाग लिया। बाद में वे बेल्जियन कांगो में आ गये जहाँ उनका परिवार टैक्सटाइल उद्योग में कार्यरत था। वहाँ का उनका अनुभव उनके पूंजीवाद के विषय में उनके विचारों पर स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। 1959 में वह कांगो छोड़कर फ्रांस में आकर बस गये। वहाँ उन्होंने चार्ल्स बेन्टलहाइम के निर्देशन में अपनी शोध–प्रबन्ध लिखा तथा 1969 से सोरबॉन, फ्रांस में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया तथा अन्त तक वहीं पर कार्य करते रहे।

इमेनुअल का असमान–विनिमय का सिद्धांत निर्भरता सिद्धांत मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जहाँ वालेरस्टीन का विश्व–अर्थव्यवस्था का सिद्धांत एक उच्च स्तर का सामान्य सिद्धांत है वहीं इमेनुअल व सामीर अमीन ऐसे मार्क्सवादी अर्थशास्त्री हैं जो अल्प–विकास की विशिष्ट समस्या का विश्लेषण एक अलग दृष्टिकोण से करते हैं, जो आन्तरिक रुप से ध्रुवीकृत पूंजीवादी विश्व–व्यवस्था के विचार से प्रारम्भ होता है; तथा इसमें असमान अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार की समस्या को जोड़ते हुए, तथा साथ ही साम्राज्यवाद के एक नवीन मार्क्सवादी उपागम को निर्मित करने हेतु इसकी प्रस्थापनाओं का पुर्नलेखन का प्रयास करता है। इन सिद्धांतों को असमान–वितरण के सिद्धांतो के रुप में जाना जाता है।

यद्यपि ये विद्वान फ्रैंक तथा वालेरस्टीन के विश्व–अर्थव्यवस्था की अवधारणा को निहतार्थ से साझा करते हैं परन्तु इमेनुअल का उपागम परिधीय क्षेत्रों से अर्न्तभाग को किये जाने वाले उत्पादन–अतिरिक्त के स्थानान्तरण तन्त्र का विश्लेषण व उसके संशोधन को और आगे ले जाता है। जिसको फ्रैंक और वालेरस्टीन वस्तुतः अस्पष्ट छोड़ देते हैं।

इमेनुअल का सिद्धांत प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो (Ricardo) के तुलनात्मक बढ़त के सिद्धांत की आलोचना से प्रारम्भ होता है। रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार, अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार में सहभागिता कर रहे उन सभी देशों के लिए यह लाभकारी है कि वे उन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करें जिनके उत्पादन के लिए उनको तुलनात्मक रुप से बढ़त प्राप्त है। इस ढ़ांचे के अर्न्तगत कुछ देशों के लिए यह सम्भव है कि उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ हो।

रिकार्डो के इस निष्कर्ष की आलोचना मिल्टन सिंगर व प्रेविस्च जैसे अर्थशास्त्रियों द्वारा भी की गयी है तथा उन्होंने यह दर्शाया है कि उन प्राथमिक उत्पादों (प्रमुख रुप से कृषि क्षेत्र व खनिज आदि) के व्यापार की शर्तों में व्यवस्थित रुप से पतन हुआ है जिनका निर्यात प्रमुख रुप से विकासशील देशों द्वारा किया जाता था। इन्होंने इस पतन की व्याख्याएँ भी प्रस्तुत कीं।

परन्तु इमेनुअल के अनुसार, कुछ निश्चित उत्पादों अथवा विशिष्ट श्रेणी के उत्पादों की ऐसी कोई प्रवृत्तिजनक विशेषता नहीं है। उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि समस्या कहीं और पर है तथा कुछ ऐसे देश हैं कि जो कुछ भी कार्य वह लेते हैं तथा जिस किसी भी वस्तु का वे उत्पादन करते है, उसके विनिमय में वे अपने *राष्ट्रीय श्रम की एक बड़ी मात्रा को विदेशी श्रम की एक बहुत छोटी मात्रा के बदले में दे देते हैं।*

इमेनुअल का यह तर्क विकास के निर्भरता सिद्धांत में एक नये आयाम को जोड़ देता है जिस पर इससे पहले किसी का ध्यान ही नहीं गया था। अतः इमेनुअल का तर्क है कि कुछ देशों का विनिमय के स्तर पर शोषण किया जाता है। मूल समस्या इस तथ्य में निहित है कि पूंजी व उत्पादों की तो अर्न्तराष्ट्रीय गतिशीलता है परन्तु श्रम (स्थानीय स्तर पर) स्थिर ही है, इसकी कोई गतिशीलता नहीं है। इमेनुअल ने बढ़ते हुए विभेदीकरण की प्रवृत्ति की खोज की जिसके माध्यम से केन्द्रीय अर्थव्यवस्थाओं की श्रम–दर एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका की अर्थ–व्यवस्थाओं की तुलना में 20 से 40 गुना अधिक है। यही असमान विनिमय का प्रमुख कारण है जो पिछड़े हुए देशों के उत्पादन–अतिरिक्त को विकसित देशों में स्थानांतरण करने के लिए उत्तरदायी है तथा इस प्रकार से पिछड़े देशों के विकास की सम्भावनाओं को नकारात्मक रुप से प्रभावित कर रहा है। यद्यपि सभी

प्रकार के असमान विनिमय आवश्यक रुप से श्रम–दरों में अंतर के कारण नहीं हैं। इमेनुअल ने इन देशों के मध्य दो प्रकार की असमतुल्यता (non-equivalance) में भेद किया है।

प्रथमः– इस प्रकार की असमतुल्यता दो देशों के मध्य उस समय पायी जाती है जब अतिरिक्त मूल्य की समान दर तथा समान श्रम–मूल्य दर होने के बावजूद, वे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में विशेषज्ञता को विकसित करते हैं जिनमें विभिन्न सावयवी संरचनाएँ पायी जाती हैं। इसके कारण निम्न स्तर की सावयवी संरचना वाली इकाईयाँ अपने अतिरिक्त को उच्च सावयवी संरचना वाली इकाइयों को स्थानान्तरित कर देती है। यह स्थानान्तरण विभिन्न राष्ट्रों के मध्य भी हो सकता है तथा एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य भी हो सकता है।

द्वितीयः– देशों के मध्य दूसरे प्रकार की असमतुल्यता उस समय दिखायी देती है जब विनिमय कर रहे देशों मे 'वेतन के स्तरों' में भिन्नता पायी जाती है तथा अतिरिक्त–मूल्य की दरें भी भिन्न होती है।

अतः विकसित देश उन सभी क्षेत्रों में उत्पादन करना बन्द कर देते हैं जो अल्प–विकसित देशों में कम मूल्य चुका कर प्राप्त किया जा सकता है। टेक्सटाइल उद्योग इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। आज अधिकतर वस्त्रों का निर्माण अल्प–विकसित देशों में काफी कम लागत पर किया जाता है क्योंकि श्रम मूल्य की दर विकसित देशों की तुलना में काफी कम है।

निष्कर्ष

अतः हम देखते हैं कि अल्प–विकास का प्रमुख कारण कम विकसित देशों का विकसित देशों द्वारा निरन्तर शोषण एक वैश्विक स्तर की अर्थव्यवस्था के अर्न्तगत 16वीं शताब्दी से निरन्तर किया जाता रहा है। आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक, इमेनुअल वालेरस्टीन, तथा अरगहिरी इमेनुअल ने अल्प–विकास की अवधारणा को विकसित करते हुए विकास के निर्भरता सिद्धांत की मूल प्रस्थापनाओं व इसके विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला है। परन्तु इस समस्या से कम विकसित राष्ट्र किस प्रकार कैसे निपटें इस पर कोई सार्थक सुझाव देने में ये नव–मार्क्सवादी चिन्तक असफल प्रतीत होते हैं। क्योंकि आज वैश्वीकरण के युग में जब समाजवादी विकास के सभी मॉडल धराशायी हो चुके हैं तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था की शोषणकारी प्रवृत्तियाँ अभी भी कार्य कर रही हैं; यह एक विचारणीय प्रश्न है कि इन देशों के विकास के लिए अब क्या मार्ग बचा है?

**हेसिएन्डा एक स्पेनिश शब्द है जिसका अर्थ है–एक बडी भूमि–संपदा, विशेष रुप से वह जिसका उपयोग कृषि कार्य हेतु किया जाता है, अथवा ऐसी संपदा पर बना एक मकान।*

संदर्भ ग्रंथ सूची

इमेनुअल, अगरिहिरी 1972: अनइकुअल एक्सचेंज, लन्दनः न्यू लेफट बुक्स।

फोस्टर–कार्टर, ऐडेन 1974: ''न्यो–मार्क्सिस्ट एप्रोचिज टू डवलेपमेंट एण्ड अन्डरडवलेपमेंट'', इन ई. डी. केड्ट एण्ड जी. विलियम्स (एडिटिड) सोशियोलोजी एण्ड डवलेपमेंटः रुतलेज।

फ्रैंक, आन्द्रे गुण्डर 1966: दी डवलेपमेंट ऑफ अन्डरडवलेपमेंट, न्यूयार्कः मन्थली रिव्यू प्रैस।

फ्रैंक, आन्द्रे गुण्डर 1969: केपिटेलिज्म एंड अन्डरडवलेपमेंट इन लैटिन अमेरिका, न्यूयार्कः मन्थली रिव्यू प्रैस।

फ्रैंक, आन्द्रे गुण्डर 1970: लैटिन अमेरिका: अन्डरडवलेपमेंट ओर रिवोल्यूशन, न्यूयार्क: मन्थली रिव्यू प्रैस।

फ्रैंक, आन्द्रे गुण्डर 1978: डिपेनडेन्ट एक्यूमलेशन एन्ड अन्डरडवलेपमेंट, लन्दन: मैकमिलन।

बेरन, पाल 1973: दी पॉलिटिकल इकोनिमी ऑफ ग्रोथ, हारमंड्सवर्थ: पेंगुइन।

मार्क्स, कार्ल 1970: '' प्रीफेस टू दी क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी'' इन मार्क्स, कार्ल एण्ड एफ. ऐंजिल्स 1970: सलेक्टिड वर्क्स, लारेन्स एण्उ विस्हार्ट।

मार्क्स, कार्ल एण्ड एफ. ऐंजिल्स 1970: सलेक्टिड वर्क्स, लारेन्स एण्उ विस्हार्ट।

मार्क्स, कार्ल एण्ड एफ. ऐंजिल्स 1971: आयरलैंड एण्ड दी आयरिश क्वैशचन, आर. डिक्सन (सम्पादित), मास्को: प्रोग्रेस पब्लिर्स।

मार्क्स, कार्ल एण्ड एफ. ऐंजिल्स 2001: ऑन दी नेशनल एण्ड कोलोनियल क्वैशचनस्: सलेक्टिड राइटिंग्स, ऐजाज अहमद (सम्पादित), न्यू देहली: लेफ्ट वर्ल्ड बुक्स।

लेरेन, जार्ज 1989: थ्योरिज ऑफ डवलेपमेंट: केपिटेलिज्म, कोलोनिएलिज्म एण्ड डिपेंडिसी, पॉलिटी।

वालेरस्टीन, इमेनुअल 1974: दी मार्डन वर्ल्ड सिस्टम, वॉल्यूम वन: केपिटेलिस्ट एग्रीकलचर एण्उ दी ओरिजिन्स ऑफ यूरोपियन वर्ल्ड–इकोनोमी इन दी सिक्सटीन सेन्चुरी, न्यूयार्क: एकेडमिक प्रैस।

वालेरस्टीन, इमेनुअल 1974: दी मार्डन वर्ल्ड सिस्टम, वॉल्यूम टू: केपिटेलिस्ट मर्केन्टेलिज्म एण्ड कन्सोलिडेशन ऑफ दी यूरोपियन वर्ल्ड–इकोनोमी 1600–1750, न्यूयार्क: एकेडमिक प्रैस।

वालेरस्टीन, इमेनुअल 1974: दी मार्डन वर्ल्ड सिस्टम, वॉल्यूम थ्रीः दी सेकेन्ड ग्रेट एक्सपेंशन ऑफ दी केपिटेलिस्ट वर्ल्ड–इकोनोमी 1730–1840, न्यूयार्क: एकेडमिक प्रैस।

हैरिस, ग्राहम 1989: दी सोशियोलोजी ऑफ डवलेपमेंट: लोंगमैन।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2022
वर्ष 8, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2022, पृ. 25–30

प्रोफेसर घुरिये का जाति पर चिंतनः एक समीक्षा

ब्रज राज चौहान*

प्रो० गोविंद सदा शिव घुरिये समय व महत्व की दृष्टि से भारत के प्रथम समाजशास्त्री माने जा सकते हैं जब उन्होंने भारत में जाति व प्रजाति के बारे में अपने अध्ययन आरंभ किए। उस समय इस विषय पर यूरोपीय विद्वानों में विशेष रूचि थी। भारतीय जनगणना के निदेशक भी इस प्रकार की सामाजिक संस्थाओं को कौतुहल का विषय मानकर उनका अध्ययन करते; गजेटियरों में इनके बारे में लिखा जाता; और विभिन्न प्रकार के धर्मो अथवा धार्मिक परंपराओं का अध्ययन इसमें जोड़ा जाता। घुरिये स्वयं संस्कृत के विद्वान हैं और उस युग में भारतीयता के प्रति जागश्त आत्मसम्मान से ओत–प्रोत कैंब्रिज में समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हुए उन्होंने अपना शोध–ग्रंथ पूरा किया और इस प्रवास में उनके आत्मविश्वास को एक अर्न्तराष्ट्रीय स्तर मिला। पैट्रिक गैडिस के मानव समाज व प्रकृति के सन्तुलन की बात तथा क्षेत्रीय अध्ययनों की ओर भी उनकी रुचि जागश्त हुई, किन्तु मूल रुप से धुरिये ने भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थों की भूमिका पर समाज को समझने का प्रयत्न किया; उस पर जनगणना की रिपोर्ट और अन्य समकालीन अध्ययनों ने अधिक सामग्री प्रदान करने का काम किया। घुरिये ने जाति–प्रथा की समानान्तर संस्थाओं को भी भारत के बाहर के प्राचीन समाजों में देखने का प्रयास किया। अपनी सूचना के आधार के रुप में सरकारी प्रकाशनों के अतिरिक्त उन्होंने नित्य नए होने वाले क्षेत्रीय अध्ययनों को तो लिया ही, पर साथ ही देश के बारे में किसी भी प्रकार की प्रकाशित सामग्री को भी विचारार्थ लिया।

घुरिये ने जाति–प्रथा के जो छः लक्षण बताये हैं, वे लगभग स्नातक स्तर के विद्यार्थी का सामान्य ज्ञान बन चुके हैं और इन्हें यहां दोहराने का कोई प्रयास नहीं किया जा रहा। उनमें से कुछ लक्षणों को उजागर करने में भारतीय समाजशास्त्रियों में जो विचार मंथन हुआ है उस ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

अंग्रेजी में "कास्ट" तथा "सबकास्ट" शब्दों का प्रयोग स्वयं में विचारणीय बिन्दु बन गया है। प्रथम तो यह कि एक भारतीय संस्था का भारतीय भाषा में नाम न होकर पुर्तगाली भाषा में उसकी अभिव्यक्ति हो, यह स्वयम् में कुछ विडम्बना है। फिर भी अर्न्तराष्ट्रीय शब्दावली का उपयोग संस्था के अध्ययन में विश्वव्यापी रुचि का द्योतक तो है ही। समाज विज्ञान के विद्यार्थी के लिए फिर भी यह आवश्यक है कि किसी भी शब्दावली का प्रयोग समाज की किस इकाई के लिए हो रहा है, यह नियत किया जाए। "वर्ण" शब्द के बारे में अधिक भ्रम नहीं है; उसके परिचायक शब्द देशव्यापी समानता लिए हैं; देश

के किसी भी भाग में कई व्यक्तियों के समूह प्रादेशिक भाषाओं की शब्दावली में हैं। उनके संस्कृत मूल में, राष्ट्रव्यापी आधार पर वर्णों की भाषा में अभिव्यक्ति हमें भारत के किसी भी भाग के लिए यह समझने के लिए सुविधा प्रदान करती है कि अमुक सामाजिक समूह किस वर्ण में आ जाता है। जब तक वर्ण की इकाई हमारी सामाजिक व्यवस्था को समझने में सहायक रही, कोई विशेष समस्या नहीं रही और जब तक काशी व प्रयाग के धार्मिक विशेषज्ञों ने यह सिद्धान्त दिया कि जाति वर्णों का विकृत रुप है; और "कलयुग" की वृत्ति "कलयुग" की स्पष्टीकरण है; अगले प्रश्नों की सार्थकता ही पैदा न हुई। महत्वपूर्ण प्रश्न तो तब उठे जब इस "कलयुगी" व्यवस्था में भी कुछ विद्वानों ने विलक्षता देखी; जब वे उसकी विशिष्टता से प्रभावित हुए और या तो उसे सामाजिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ माना अथवा इतना बड़ा अभिशाप कि समूल उन्मूलन श्रेयस्कर माना। इस स्थल पर दो प्रश्नों पर विचार करना उचित है– (1) सामाजिक इकाई का स्पष्टीकरण (2) सामाजिक इकाई का योगदान।

"कास्ट" के छः लक्षणों** का वर्णन करने के पश्चात् घुरिये इस निर्णय पर पहुँचें कि प्रभावी दशष्टि से "सबकास्ट" ही "कास्ट" है। इस प्रकार हमारा ध्यान अर्न्तविवाही समूह की ओर गया; जो कि क्षत्रिय वर्ण को छोड़कर अन्य सभी वर्णों में वर्ण से छोटी इकाइयों के रुप में काम करते हैं। उदाहरणार्थ केवल ब्राह्मण कहने के स्थान पर "कान्य–कुब्ज ब्राह्मण" वैश्य के स्थान पर "अग्रवाल" और चमार के स्थान पर "जाटव" झसिया, मोची" जैसे संबोधन उस इकाई को स्पष्ट करते हैं जिसमें अर्न्तविवाही लक्षण हों तथा जहाँ सम्भवतः अपनी एक पंचायत भी हो। कुछ अमरीकी समाज वैज्ञानिकों ने इकाइयों की स्पष्टता लाने के लिए कास्ट अथवा सब–कास्ट के स्थान पर जाति शब्द को ही अंग्रेजी भाषा में अंगीकृत करना उचित समझा है। इस भाँति इस विवेचन में भारतीय सामाजिक संस्था का एक नाम उजागर हुआ– और सब कास्ट को ही कास्ट का रुप मानकर जाति द्वारा समझा गया। सब–कास्ट या जाति किस प्रकार बनी है इस विषय पर शाब्दिक और ऐतिहासिक विवाद उठा है। घुरिये के अनुसार एक ही इकाई से अधिक इकाइयाँ विभेदीकरण द्वारा उत्पन्न हुई हैं– जब एक जाति में, उदाहरणार्थ, व्यवसाय में हल्का परिवर्तन हुआ, या पूजा–पाठ की पद्धति में थोड़ी सी विभिन्नता आई, तो उसी को प्रतीक मानकर नयी इकाई (सब–कास्ट) का जन्म हो गया जो कालान्तर में स्वयं एक सशक्त इकाई बन गई। इस प्रकार बनी इकाइयाँ कुछ कार्यो के लिए एकत्र रुप में भी कार्य करती हैं और एक दूसरे से कुछ महत्वपूर्ण कार्यो में भेद भी करती हैं। बंगाल के कैवत्रा दो भागों में विभक्त हुएः एक का संबध ा मछलियों के पकडने से रहा और जल द्वारा संबधित रहने के कारण वे जलीय कैवत्रा रहे; दूसरा भाग खेती की ओर बढे; हल का प्रयोग करने लगे; और वे हलिया कैवत्रा कहलाने लगे, (हट्टन, जे. एच. 1961) और उसके बाद और कुछ। राजस्थान में भी जो कुम्हार गधे से सम्बन्धित हैं, "गधेड़े कुम्हार" कहलाते हैं; तथा खेत से संबधित, "खेतेड़"। जातियों से नई जातियों का विभेदीकरण की प्रक्रिया द्वारा उद्‌गम घुरिये ने अन्य कई उदाहरणों से स्पष्ट किया है। दूसरी ओर, पुणे से इरावती कर्वे ने महाराष्ट्र के कुम्हारों के समूह की विभिन्न इकाइयों का विवेचन करते हुए यह मत उजागर किया है कि छोटा व बड़ा चाक या थपेड़े लगाकर बरतन की क्रियाएं एक व्यवसाय का विभेदीकरण नहीं; अपितु विभिन्न इकाईयों के स्वतंत्र अस्तित्व का परिचायक है। उन्होंने शरीर–रचना, भाषा और सांस्कृतिक विभिन्नताओं के आधार पर कुम्हारों के समूहों की पश्थक उत्पत्ति की बात कही है। अतः इन्हें सब–कास्ट शब्द से ही आपत्ति है। क्योंकि कास्ट की सब–कास्ट में परिणति नहीं हुई है; अतः सब–कास्ट के स्थान पर कास्ट शब्द का प्रयोग, और विभेदीकरण के स्थान पर एकत्रीकरण की प्रक्रिया

को उन्होंने वस्तुस्थिति के अधिक निकट माना है कर्वे की शब्दावली में हमें सब–कास्ट के स्थान पर जाति और कास्ट के स्थान पर "जातियों का समूह" शब्द प्रयुक्त करने चाहिए – जिससे इकाइयों के लक्षण भली भाँति व्यक्त हो सकें – और उनके पारस्परिक संबंधों की उचित दिशा समझायी जा सके। भारत जैसे विशाल देश में समय और स्थान की भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए अन्त में इसी बात को कहना होगा कि दोनों मतों के बारे में प्रमाण उपस्थित हैं: विभेदीकरण और एकीकरण की प्रक्रियाएँ सामने आयी हैं; और दोनों सम्भावनाओं से आज के भारतीय समाज के विश्लषकों को जूझना है। यह विवाद चलता रहे और हमें नित्य प्रश्न चिन्ह लगाने का अवसर देता रहे, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि कर्वे द्वारा सुझाई गई शब्दावली प्रश्न को अधिक खुला रखने में सहायक होगी।

जहाँ तक व्यवसाय व जाति के संबंध का प्रश्न है, घुरिये ने प्रारम्भ में ही स्पष्टीकरण कर कुछ भ्रान्तियों को दूर किया। जब भी "कास्ट"के लक्षण बताने के बाद किसी समूह का अंग्रेजी में रुपान्तर किया जाता, तब उसके द्वारा इंगित कई अर्थों में व्यवसायिक पक्ष को प्रधानता दे जाती थी। उदाहरणार्थ, नाई 'बारबर' बन गया। वह अपने आप में त्रुटि तो नहीं, परन्तु नाई ग्रामीण जीवन में कई अन्य कार्य भी करता है। विवाह के समय नाई लगभग आधा पुरोहित हो जाता है; विवाह के योग्य व्यक्तियों के परिवारों के बीच मध्यस्थ करने का काम भी नाई कई जगह करता रहा है; भारत के कुछ भागों में वह वर का अंगरक्षक सा बन कर चलता है; और कुछ छोटी जातियों में तो ब्राह्मण की अनुपस्थिति तक नहीं खटकने देता। इसी भाँति नाइन का कार्य हर उत्सव पर पूड़ी के लिए आटा तैयार करने से लेकर अन्य मेहनत वाले कार्यों तक; और विवाह व जन्म के अवसरों पर तो प्रमुख सेवक या निदेशक के रुप में भी देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि नाई का 'बारबर' के रुप में वर्णन किया जाना उसके मात्र व्यावसायिक पक्ष को प्रकट करता है; उसके कर्मकाण्डी व धार्मिक पक्ष को नहीं, न ही उसके दूत के रुप में कार्य करने को। इस प्रकार उसकी जाति का व्यावसायिक पक्ष उजागर हो जाता है कि कुछ लेखक उसी को जाति का मुख्य बिन्दु मान लेते हैं। नेसफील्ड इसी धारणा का एक उदाहरण है– जो वर्णों का कार्य के अनुसार जातियों में और अधिक विभाजन के सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। घुरिये ने स्पष्ट किया है कि जाति व्यवसाय निश्चित नहीं करती। हाँ, व्यवसाय और जाति का कुछ संबंध अवश्य है। जाति अपने सदस्यों के लिए हर प्रकार का व्यवसाय खुला नहीं मानतीः अपने सदस्यों को अपनी श्रेणी से ऊपर बढ़ने की तो छूट दे सकती है किन्तु नीचे की ओर जाने की नहीं। सम्भवतः इसी विचार को ध्यान में रखते हुए घुरिये ने कहा जाति अपने सदस्यों को व्यवसाय के चयन में सीमित स्वतंत्रता देती है। बाद के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में (उदाहरणार्थ योगेश अटल द्वारा चेजिंग फ्रन्टियर्स आफ कास्ट) में तो व्यवसाय को जाति का मूल लक्षण भी नहीं माना गया है। घुरिये का महत्व इस बात में है कि उन्होंने इस खुले संबंध की सम्भावना पचास वर्ष पूर्व इंगित कर दी थी।

2

विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंधों की चर्चा में घुरिये ने ग्रामीण जजमानी व्यवस्था पर कुछ ध्यान खींचा है। इस विवरण में उन्होंने जातियों के विभिन्न स्तरों की बात कही है; उनकी असमानता के तथ्य को स्वीकार किया है और उसके बाद प्रश्न उठाया है कि इन असमान इकाइयों में कैसे

सम–रसता आयी है। उनका विचार है कि चाहे कोई जाति कितनी ही नीची क्यों न हो, जीवन–क्रम के और अन्य उत्सवों में कई बार उसे ऐसे अवसर मिलते हैं जब वह अपनी सार्थकता का प्रदर्शन करती है; जबकि उसके बिना आगे की कार्यवाही रुक जाती है। इस प्रकार के अवसरों का धार्मिक व अन्य महत्वपूर्ण क्रियाओं का अभिन्न अंग मानने से सम्पूर्ण समाज में एकता का आभास होता है। घुरिये का यह मत दो सम्भावनाओं पर विचार आमन्त्रित करता हैः समानता समन्वय के लिए आवश्यक नहीं है; और समन्वय स्थापित करने के लिए धार्मिक तत्वों का विशेष स्थान है।

भारतीय संदर्भ में विभिन्न समूहों में एकता हो, इस प्रश्न पर घुरिये के विचार गम्भीर रुप से अपने निजी चिन्तन की अभिव्यक्ति है। सातवें भारतीय समाजशास्त्र सम्मेलन (1968) के उद्घाटन भाषण में उसका विशिष्ट विवेचन किया गया था। देश भर में संस्कृत भाषा और साहित्य एक युग तक देश को सांस्कृतिक एकता में पिरोते रहे; सामाजिक समूह के रुप में ब्राह्मण उस निधि को संजोकर प्रसारित करने वाले रहे। दक्षिण में विशेष रुप से ब्राह्मण–विरोधी आन्दोलन एक समूह विशेष के विरोध ा में ही नहीं, वरन् संस्कृत के विरोध में भी आया। संस्कृत भाषा के स्थान पर "सत्यमेव जयते" का भी भाषा अनुवाद प्रादेशिक भाषा में हुआ और इस प्रकार राष्ट्रीय–चेतना के संकेत भी क्षीण पड़ने लगे। नये समूह सत्ता में आने लगे जिनमें सत्ता का मान तो आया किन्तु उनकी सीमाओं और मान्यताओं का नहीं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता स्वयं में संदिग्ध हो गयी है।

राष्ट्रीय एकता के धार्मिक आधार पर, घुरिये बहुत समय से चितिंत रहे हैं। वर्तमान संदर्भ में उनके द्वारा भारत के जन–जातीय समुदायों का वर्णन ध्यान देने योग्य है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में आदिवासी धार्मिक क्रियाओं का अध्ययन एक विशेष रुप से किया गया था। भारत में हिन्दू, इस्लाम व अन्य संबंधित धर्मों की चर्चा सामान्य जनता के लिए की जाती थी। विश्व–भर में आदिवासी मसीही धर्म के सम्पर्क में आये थे और यूरोप से आने वाले व्यक्तियों को ऐसा लगता था कि मसीही धर्म आदिवासी क्रिया–कलापों से मूलतः भिन्न है। एक ईश्वर के स्थान पर जगह–जगह माना, वोंगा दिखायी पड़ते थे; हर नदी, नाले, पेड़, पत्थर में, जानवर और प्राकृतिक वस्तु में कोई न कोई अलौकिक शक्ति का आभास होता; उसकी प्रसन्नता के लिए या नाराजगी दूर करने के लिए किसी न किसी उपासना या अन्य क्रिया की आवश्यकता होती, उत्सव होते और मानव प्रकृति से अपना समायोजन स्थापित करता। डुर्कहाइम जैसे विचारक को भी कुछ मेहनत से कहना पड़ा कि धर्म का असली रुप, ईसाई धर्म के बाहर देखने को हमें मानस तैयार करना होगा और उसे आदिवासियों के जीवन में ढूँढना होगा। फिर भी इससे पूर्व श्रम–विभाजन के संदर्भ में डुर्कहाइम ने ही इन दोनों ध र्मो के अन्तर को पारस्परिक विरोधी के रुप में प्रस्तुत किया था। इस प्रकार का विचार, बहुत व्यापक था और आदिवासियों का धर्म जीव–वाद से प्रेरित माना जाता था। ईसाई धर्म आदिवासियों के धर्म से भिन्न था। ईसाई धर्म एक बड़ा धर्म था। अन्य बड़े धर्मो में हिन्दू, बौद्ध व इस्लाम की गिनती हो सकती थी। अतः यह भी सोचा जा सकता था कि भारत में आदिवासी धर्म हिन्दू धर्म से पृथक है और जीव–वाद पर आश्रित है। घुरिये ने दोनों धर्मो की समानता पर ध्यान दिया और विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट किया कि आदिवासी हिन्दू ही हैं। इस प्रकार के मत को धीरे–धीरे मान्यता मिलती गई – और कम से कम भारत के मध्य भाग के आदिवासी अपने आपको हिन्दू समझते व गिनवाते रहे। घुरिये को प्रसन्नता हुई जब "पिछड़ा वर्ग" शब्द प्रशासकीय शब्दावली में आया।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि जिस प्रकार के प्रश्नों को घुरिये ने उभारा है उन पर समय व स्थान के व्यापक पैमाने पर विचार करना कहाँ तक संभव है; और उस सम्भावना की क्षमता का कहाँ तक विकास करने का अवसर इस पीढ़ी के समाज विज्ञान के विद्यार्थियों को मिल सकता है। तीन हजार वर्षो में होने वाले परिवर्तनों को समझते रहने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री पर अधिकार आवश्यक होगा। देश के विभिन्न भागों में होने वाली गतिविधियों को समझने के लिए सभी प्रदेशों का ज्ञान चाहिए तथा आधार–भूत ग्रन्थों का संस्कृत में अध्ययन करने की क्षमता भी। देश की विभिन्न जनगणना रिपोर्टों में दिए गए आँकड़ों का अर्थ निकालते रहने की योग्यता; और फिर जाति व समाज पर रचे गये साहित्य का यथा–समय अध्ययन करते रहना एवं समाजशास्त्रीय दशष्टिकोणों का साधिकार रुप में आत्मसात करना। सम्भवतः हम इतने कार्यों व क्षमताओं को एक व्यक्ति में केन्द्रित न कर सकेंगें; किन्तु यदि विभिन्न विद्यार्थी विभिन्न पक्षों को उजागर करते रहे, तो समाजशास्त्र का विषय और हमारी अपने समाज की समझ, दोनों ही आगे बढ़ते रहेंगे।

अन्त में कहा जा सकता है कि घुरिये में संस्कृत, समाजशास्त्र व क्षेत्रीय अध्ययनों को एक–सूत्र में पिरोने की विलक्षण प्रतिभा है। व्यक्तित्व की दशष्टि से उन्हें भारतीय बौद्धिक क्षमता पर इतना विश्वास है कि वह इसे किसी से भी नीचा सहन नहीं कर सकते; और इस निमित्त यदि कटु वाक्य भी बोलने हों तो हिचकते नहीं। उन्हें अपने विचारों में अदम्य विश्वास सा है, जो विज्ञान के खुलेपन और पुर्नविचार के क्रम में अनायास बाधक हो सकता है। उन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारत की जाति संस्था पर चिन्तन के कई बिन्दु प्रस्तुत किए हैं, जिनमें वर्तमान लेखक ने जाति के स्वरुप और उसकी इकाई निर्धारण; जातियों का अधिकाधिक संख्या में बढ़ना; और विभिन्न जातियों का पारस्परिक संबंध तथा उनके बीच एकता या समायोजन के प्रश्नों पर उनके विचारों को समाजशास्त्र के तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में विचारार्थ प्रस्तुत किया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अटल, योगेश 1978: चेंजिग फ्रंटियरर्स ऑफ कास्ट, दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाऊस।
चौहान, बी० आर०. 1967: ए राजस्थान विलेज, नई दिल्लीः वीर पब्लिशिंग हाऊस।
घुरिये, जी० एस०. 1957: कास्ट एडं क्लास इन इंडिया, बाम्बेः दी पापुलर बुक डिपो।
हट्टन, जे० एच० 1961: कास्ट इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सटी प्रेस, थर्ड एडीशन।
कर्वे, इरावती 1953: किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया, पूनाः डेक्कन कॉलेज।
——— 1958: "वाट् इस कास्ट", इकोनोमीक वीकली, वाल्यूम X।

<u>सम्पादकीय टिप्पणीः</u> प्रस्तुत लेख की एक साइक्लोस्टाइल प्रति मुझे अपने पी.एच.डी. शोध काल की एक फाइल से कुछ समय पूर्व प्राप्त हुई है। यह लेख संभवतः 1980 में उ0प्र0 समाजशास्त्र सम्मेलन, लखनऊ में प्रस्तुत किया गया था। इसकी महत्ता व प्रासंगिकता आज के संदर्भ में वैसी ही बनी हुई है। अतः पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत है।

Emerging Trends in Development Research

(ISSN No. 0972-9445)
(Peer-reviewed, Refereed Interdisciplinary Research Journal)
(Established in 1994)

Editor: Virendra P. Singh
Book Review Editor : Deepthi Shamker

Editorial Advisory Board

Late Brij Raj Chauhan Udaipur (India) (1995-2009); Kerstin Bohm Stockholm (Sweden); K. L. Sharma Gurgaon (India); Heinerich Beck, Bamberg (Germany); Arvind Chauhan, Bhopal (India); G. P. Pandey, Silchar (India); Padma Rani, Manipal (India); Parvez A. Abbasi, Surat (India); Jeffery Henderson, Bristol, (UK); Dharam Ghai, Nairobi (Kenya); Edward J. Jay, Oakland (USA); Nataliya Velikaya, Moscow (Russia); S. L. Sharma, Panchkula (India); Sirpa Tenhunen, Helenski (Finland); Rajesh Misra, Lucknow (India); Christiane Wagner, Sao Paulo (Brazil); Sarvesh Dutt Tripathi (India); Dimitra Laurence Larochelle, Paris, (France); Prahlad Mishra, Jabalpur (India); Devika Naidu, Johnesberg (South Africa); Madhav Govind, New Delhi (India); Sarvesh Dutt Tripathi, New Delhi (India)

The "Emerging Trends in Development Research" (ETDR) is a half yearly interdisciplinary peer reviewed research journal brought into being with an aim to provide a forum for disseminating of the findings of on-going researches and exchange of views between different scientific disciplines, policymakers and planners concerned with various dimensions of the development process. The Emerging Trends in Development Research welcomes articles of academic interest representing original and analytical work based on review of existing literature and fresh empirical research studies conducted on various dimensions of development with special reference to the problems of the "developing" countries. The ETDR has been rated as A1 Refereed Journal by International Evaluation of Research and Doctoral Training at the University of Halinski in RC-Specific Tuhat Compilations of Publications Data 2005-2010. Contributors must send a soft copy of the paper including notes, references, tables in MS word file in English. The articles are accepted with an understanding that they are not being submitted for publication elsewhere. The contributors are entitled to receive print/pdf soft copy of the journal along with one printed copy of the journal.

For details, contact us on etdrvps@gmail.com; Mobile No. +91-9235608187; Whatsapp no. +91-9936868187.; website; www.grefiglobal.org

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2022
वर्ष 8, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2022, पृ. 31–40

भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव

रीता जायसवाल*

सारांश

भूमंडलीकरण एक सार्वभौमिक प्रघटना है जिसने पूँजीवाद के साम्राज्य का विस्तार किया है। यह वैश्विक पूँजी और नेटवर्क का एकीकरण है। भूमंडलीकरण कोई नवीन प्रत्यय नहीं है, अपितु यह आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप एक नए स्वरूप में अवतरित हुआ है। इसका बीजारोपण औद्योगिक क्रान्ति (1760) और फ्रांस की क्रांति (1789) के युग में हुआ था। इक्कीसवीं सदी, जिसे भूमंडलीकरण युग भी कहा जाता है, जिसमें विश्व के सम्पूर्ण समाज का जन–जीवन एकीकृत हो रहा है तथा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व अन्य सभी पहलूओं पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रस्तुत अध्ययन का विषय ''भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव'' है। अध्ययन की शोध प्ररचना विवरणात्मक और उपागम संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक है। यह अध्ययन वाराणसी जनपद के पिण्डरा व सिंधोरा गाँव पर आधारित है। अध्ययन में सोद्देश्य विधि से 68 उत्तरदाताओं का चयन किया गया है। आँकड़ों के एकत्रीकरण हेतु साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया है जो ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना जैसे– भाषा, वेशभूषा, खान–पान, रीति–रिवाज, मूल्य, आचरण के नियम तथा भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव की जाँच करती है। एकत्रित आँकड़ों का प्रस्तुतिकरण, साधारण प्रतिशत द्वारा करते हुए आँकड़ों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रमुख अवधारणाएं: भूमंडलीकरण, संस्कृति, ग्रामीण समुदाय

भूमंडलीकरण एक सार्वभौमिक प्रघटना है जिसने पूँजीवाद के साम्राज्य का विस्तार किया है। कास्टेल्स (2000) के अनुसार भूमंडलीकरण वैश्विक पूंजी और नेटवर्क का एकीकरण है। भूमंडलीकरण का प्रत्यय नवीन नहीं है यह आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन व पूंजीवाद के विस्तार से उत्पन्न हुआ है। इसका बीजारोपण औद्योगिक क्रांति (1760) और फ्रांसिसी क्रांति (1789) के प्रभाव के परिणामस्वरूप पारम्परिक सत्ता से युक्त एवं सामाजिक संबंधों के विशिष्टवादी, अविभेदीकृत संरचना वाले समाज

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महिला महाविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के रूपान्तरण से हुआ जिससे नवीन विभेदीकृत नयी भूमिका–संरचना वाले समाज का सृजन हुआ जिसमें नवीन व्यवस्था जैसे– औद्योगिक श्रम, फैक्ट्री व्यवस्थाएं, वित्तीय तथा प्रौद्योगिकीय प्रशासन तंत्र, आधुनिक बाजार–प्रणाली उदारवादी एवं प्रजातांत्रिक व्यवस्था के तंत्र शामिल हुए। इस नवीन व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया में त्वरण व सतत् विकास अन्तनिर्हित था। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रसार से उत्पन्न नवाचारों से उत्पन्न शक्ति ने पूंजीवादी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, जो माल एवं सेवाओं के उत्पादन से जुड़ी हुई थी, का रूप संचयी बन गया। जिसने अविभेदीकृत सामाजिक संरचना के विशिष्टवादी तत्वों पर प्रहार किया और सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन हुआ जिससे नवीन सांस्कृतिक व्यवस्था अस्तित्व में आई, जिसे विज्ञान व प्रौद्योगिकी की उन्नति ने प्रेरक शक्ति प्रदान की। विशेषता के रूप में सभी अपेक्षाकृत रूप से आधुनिक समाज की संरचनाएं तार्किकता, सार्वभौमिकता, प्रकार्यात्मक विशेषता तथा भावनात्मक तटस्थता तथा वर्जन (वस्तुपरकता) पर अधिकाधिक बल देती प्रतीत होती है (मेरियन जे. लेवी, 1952.)।

भारत की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है तथा यह परम्परागत समाज का प्रतिनिधित्व करती है। भारत में सम्पूर्ण जनसंख्या के आधे से भी अधिक लोग गाँव में निवास करते है। गाँव पर भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने अपनी पहुंच बनानी शुरू कर दी। भूमंडलीकरण विशेषता है कि किसी भी अपेक्षाकृत रूप से गैर–आधुनिकीकृत समाज में सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में यह बल अधिक उच्चतर तथा अधिक सामान्य होते है।'' इस प्रकार की सामाजिक संरचना के मध्य आर्थिक व्यवस्था के नवीन स्वरूप का उद्भव स्वाभाविक सहवर्ती औद्योगीकरण व नगरीकरण है। इस व्यवस्था को किसी भी देश की राजनीतिक संस्थाओं द्वारा कानूनी व संवैधानिक वैधता प्रदान की जाती है। इस परिवर्तन के क्रम में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का जन्म होता है, जिसे कूननी व संवैधानिक वैधता राजनीतिक संस्थाओ द्वारा समर्थन दिया गया है, वह है नव–उदारवाद। नव– उदारवाद को विश्व की महाशक्तियों द्वारा, जैसे अमेरिका में रीगन व ब्रिटेन में एजिलावेथ के शासन काल में, राजकीय समर्थन दिया गया। नवउदारवाद ही भूमंडलीकरण का मुख्य चालक है। प्रस्तुत शोध प्रपत्र में ''भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव का विश्लेषण किया गया है''।

भूमंडलीकरण

भूमंडलीकरण को प्रायः सम्राट–विहीन साम्राज्य के रूप में देखा जाता है, जिसमें पूंजीवाद के साम्राज्य का विस्तार होता है व जिसका स्वरूप सार्वभौमिक है। भूमंडलीकरण ने विश्व पटल पर दो सम्भावित महाशक्तियों का निर्माण किया है, वह 'वस्तुओं का वैश्विक विपणन' और 'विचारों का वैश्विक विपणन'। भूमंडलीकरण की इन दो महाशक्तियों ने सम्पूर्ण विश्व के समाज को 'उपभोक्तावादी समाज' में परिवर्तित कर दिया है, इसके फलस्वरुप स्थानीय समाज से लेकर वैश्विक समाज में पूर्ण रूप से 'बाजारवाद' फैल चुका है। जिससे एक 'लोकप्रिय संस्कृति' ने जन्म ले लिया है। फ्रेडमैन (2005) ने अपने वक्तव्य में कहा है कि भूमंडलीय प्रक्रिया और बाजार के नवउदारवाद ने दुनिया के परिदृश्य को सपाट कर दिया है जिसमें सम्पूर्ण विश्व के समाज की संस्कृति एक वैश्विक संस्कृति की छत्र–छाया में पोषित हो रही है। पारिभाषिक दृष्टि से भूमंडलीयकरण वह प्रक्रिया है जिसमें वस्तु, सेवा, विचार पद्धति पूंजी, बौद्धिक सम्पदा अथवा सिद्धान्त को विश्वव्यापी करना अर्थात विश्व के प्रत्येक

क्षेत्र में अप्रतिबन्धित आदान–प्रदान करना है (शर्मन 2013)। भूमंडलीकरण क्षेत्रीय आयामों को अक्षेत्रीकरण में, सामाजिक गतिविधियों के बढ़ते और तीव्र अन्तर्सम्बन्धों और उनके संकुचन के रूप में है (थेरबार्न 2000)। भूमंडलीकरण का अर्थ विश्वव्यापी पहुँच प्रभाव और सामाजिक घटनाओं के जुड़ाव की प्रकृति से है, गिडेन्स के अनुसार (1990) विभिन्न लोगों और दुनिया की विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रित या पारस्परिकता ही भूमंडलीकरण है।

भूमंडलीकरण की विश्वव्यापी पहुँच ने विश्व के प्रत्येक समाज की संस्कृति की अति न्यूनतम ईकाई को प्रभावित किया है जिससे स्थानीय सांस्कृतिक तत्व ने वैश्विक स्वरुप लेना प्रारम्भ कर दिया है जो कि उस समाज की अद्वितीय पहचान थी।

संस्कृति

किसी देश राज्य व स्थानीय विशेष की संस्कृति का उद्भव वहां के काल, परिस्थिति व घटना का परिणाम होती है। उस संस्कृति में वहाँ के समाज के मूल्य निहित होते है तथा उस संस्कृति के लोग उस मूल्य को स्वीकार करते हैं जो उस समाज द्वारा अपेक्षित होती है। संस्कृति द्वारा आरोपित प्रस्थिति से समाज के लोग बहुआयामी अर्जन करते हैं। संस्कृति व्यक्तियों को परस्पर सामंजस्य व एक साथ रहने की स्थिति को परिभाषित करने के साथ–साथ सामाजिक कोड का पालन करके मानव समाज बनाने की अनुमति देती है। जो उन्हें अन्य संस्कृति से अलग करती है। इस प्रकार संस्कृति मानव प्रकृति का आन्तरिक भाग है (गिरिट्ज 1973)।

संस्कृति विशिष्ट सामूहिकता को पहचानने में सहायता करती है (ग्रिलो 2003)। समसमाजिक समाज में संस्कृति को उच्च व निम्न श्रेणी में विभक्तिकरण किया गया है उच्च संस्कृति का सम्बन्ध समाज के कुलीन वर्ग से है जो अल्पसंख्यक होते है, उनकी संस्कृति का प्रभाव निम्न संस्कृति पर होता है, जो बहुसंख्यक है, जो भूमंडलीकरण का प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है। फ्रेंच समाजशास्त्री बोरदियो (1986) ने सांस्कृतिक पूंजी का प्रत्यय दिया जिसके तीन आयाम–उद्देश्यपूर्ण (objective), सन्निहित (Embodied), और संस्थागत (Institutionalised) है। नृतत्वशास्त्रियों में संस्कृति की अवधारणा को लमकर युद्ध जैसी स्थिति है। वे यह निर्धारित करने का प्रयास करते हैं कि क्या संस्कृति स्थिर/वस्तुनिष्ठ और गत्यात्मक/व्यैक्तिक प्रघटना है (देखें ग्रिलो 2003; मैटरो 2016)। ई0बी0 टायलर (1871) ने जनजातीय अध्ययन के आधार पर स्थिर/वस्तुनिष्ठ संस्कृति को रेखांकित किया जो जटिल रूप से स्थिर होता है। बाद में गीर्टज (1973) द्वारा संस्कृति को गत्यामक/ व्यैक्तिक रूप में देखा गया। बेगनर (2015) ने बताया कि संस्कृति बदल रही है क्योंकि रोजमर्रा का जीवन जटिल होता जा रहा है।

संस्कृति में पूरी तरह से आर्थिक भूमंडलीकरण ने स्थान बना लिया है रोजमर्रा के जीवन में पिज्जा, पेप्सी कोला, बाडी–शोप जैसे अर्न्तराष्ट्रीय ब्रांड के नाम प्रचलित हो गए है। मैकडोनाल्ड, हॉलीवुड फिल्म आदि में लोगों की रूचि बढ़ी है। किसी भी संस्कृति की सफलता उत्पादकता, गुणवत्ता व सुरक्षा का संन्तुलन बनाए रखने में है। चार तत्व अनुभव, ज्ञान गति और फोकस द्वारा सन्तुलन बना रहता है जब ये तत्व संन्तुलन से बाहर हो जाते है तो संस्कृति गलत दिशा की ओर चली जाती है। भूमंडलीकरण के कारण आवश्यक रूप से संस्कृति की सफलता को बनाए रखने वाले तत्वों में असन्तुलन आया है।

भूमंडलीकरण बनाम ग्रामीण समुदाय की संस्कृति

सांस्कृतिक भूमंडलीकरण बहुत अधिक विस्तृत, जटिल तथा अस्पष्ट प्रत्यय है। यात्रा, मुक्त व्यापार का विस्तार और सूचना युग की शुरूआत तथा फाइबर आप्टिक केबल जो महाद्वीपों को जोड़ने वाले मुख्य माध्यम है जिससे दुनिया भर के लोगों सीमाहीन वर्ल्ड वाइड बेब (w.w.w) के माध्यम से तुरन्त संवाद करते है। सूचना संचार क्रान्ति ने निःसंदेह सांस्कृतिक वैश्वीकरण में एक बड़ी भूमिका निभाई है। संचार के विभिन्न माध्यमों द्वारा एक जगह से विशेष सांस्कृतिक तत्व अपनी सीमा से बाहर आसानी से फैला दिए जाते हैं या फैल जाते हैं और लोकप्रिय संस्कृति (Popular culture) को जन्म देते है। जिसे वैश्विक संस्कृति के रूप में देखा जा रहा है। अर्जुन अप्पदुराई (1996) ने वैश्वीकरण के सांस्कृतिक आयामों की जांच पर बल देते हुए तर्क दिया कि आधुनिकता बहुत हद तक प्रबोधन का उत्पाद थी जो पूंजीवाद के उदय के बाद हुई। आधुनिकता से जुड़ी समझ मूल रूप से पश्चिमी संस्कृति से है। आधुनिकता का पश्चिमी अनुभव सार्वभौमिक है। उन्होंने अपने अध्ययन के माध्यम से यह तर्क दिया है कि आधुनिक और पारंपरिक समाजों के भीतर अनिमिताओं को देखा जा सकता है उनका दावा है कि आधुनिक महानगरी व शहर आधुनिकता और परम्परा का एक साथ अनुभव करते हैं। वर्तमान समय में भारत जैसे विकासशील देश के अलग–अलग हिस्सों में एक ही समय में जीवन के पारम्पारिक, आधुनिक दोनों तरीको के अभ्यास को देखा जा सकता है। जिसे हम संस्कृति के हाइब्रिड (Hybrid) रूप में देखते हैं।

ग्रामीण सामुदायिक जीवन पर भी भूमंडलीकरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ग्रामीण जनजीवन से जुड़े संस्कृति के सूक्ष्म रूप पर भी भूमंडलीकरण का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रामीण जनजीवन के खान–पान, पहनावे, भाषा, रीति–रिवाज, साहित्य, मूल्य, मनोरंजन के साधन, सामाजिक संबंधो के स्वरूप आदि ने नवीन रूप लेना शुरू कर दिया है। यह स्थिति मुख्य रूप से भूमंडलीकरण के ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रखर प्रहार का परिणाम है। जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य केन्द्र बिन्दु रही कृषि व्यवस्था प्रभावित हुई है जैसा कि लोखो और इचुलमैन (1991) ने भी बताया है कि पूंजी का प्रवाह आर्थिक व्यवस्था, गरीबी और समृद्धि, विभिन्न क्षेत्र और स्थानों के बीच अल्पकालिक होती है। लेकिन सांस्कृतिक क्रियाकलापों को सामान्यतः सामान्य रूप से प्रभावित करती है। समाज के जटिल रूप की ओर अग्रसर होने के कारण ग्रामीण संस्कृति की स्थिर/वस्तुनिष्ठ प्रकृति परिवर्तित होकर गत्यात्मक/व्यक्तिनिष्ठ बन रही है। ग्रामीण समाज में भूमंडलीकरण के मूर्त और अमूर्त आयाम के प्रभाव दिखाई पड़ते है।

साहित्यावलोकन

भारत के सन्दर्भ में, ग्रामीण समुदाय संस्थाओं और व्यक्तियों का संगठन है तथा अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आत्मनिर्भर हैं। ऐसे स्थिर और संस्थात्मक वस्तुनिष्ठता की प्रकृति वाले समाज पर वर्तमान में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ रहा हैं जिससे वहां के सांस्कृतिक प्रतिमान बदल रहे है। अनेक समाजशास्त्रियों ने इस पर प्रकाश डाला है तथा ग्रामीण समुदाय का विस्तृत व गहन अध्ययन किया और पाया कि परम्परागत व्यवस्था परिवर्तित हो रही है।

इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में भी ग्रामीण समुदाय या अध्ययन हो रहे है। सिंह और सिंह (2007) ने पंजाब ने बहापुर गाँव का अध्ययन किया और पाया कि गांव का विकास उनके समुदाय द्वारा किया गया है। राव (2018) ने दिल्ली के आस–पास के गांव का अध्ययन किया और पाया कि ग्रामीण समुदाय के जीवन में आर्थिक बदलाव दिखाई पड़ा जिसका उल्लेख अपनी पुस्तक ''सोशल चेन्ज इन मालाबार'' में विस्तार से किया गया है। पारम्परिक अविभेदीकृत व्यवस्था के सभी आयामों में विभेदीकृत भूमिका संरचना ने अपनी जगह बनाना शुरू कर दिया है।

दुबे (2011) ने भी अपने अध्ययन में पाया कि भूमंडलीकरण का प्रभाव ग्रामीण समुदाय के जीवन या प्रत्यक्ष रूप से पड़ रहा ह। जिससे उनके रहन–सहन एवं भौतिक संस्कृति की परिस्थितियों में परिवर्तन देखा जा सकता है।

मोहन व अन्य (2012) ने मिर्जापुर जनपद में टंगड़ो नामक गांव मे तकनीकी विकास का प्रभाव ग्रामीण समाज पर किया और पाया कि भूमंडलीकरण प्रसार में मुख्य भूमिका नवीन संचार माध्यमों जैसे, इन्टरनेट, मोबाइल आदि की है जो आज गांवों मे भी लोकप्रिय हो गए हैं जिससे ग्रामीण समुदाय की मुख्य व्यवस्था कृषि पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है।

सामा (2016) ने मलय गॉव के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष दिया कि वर्तमान परिस्थिति के प्रभाव स्वरूप ग्रामीण समुदाय की प्रबंधन शैली में बदलाव आया है इसके विपरीत कुदरू ने मध्य प्रदेश के जनजातीय ग्रामीण समुदाय पर किए अध्ययन के आधार पर यह बताया कि पालघाट में रहने वाले लोगों पर भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव नहीं हुआ है। आज भी यह समुदाय संचार व यातायात के साधनों से वंचित है।

शोध अन्तराल

भूमंडलीकरण के समाज पर प्रभाव के अध्ययन के अनेक साक्ष्य है किन्तु प्रस्तुत शोध अध्ययन यह अध्ययन वाराणसी जनपद के गांव पिंडरा और सिंधोरा गांव पर केन्द्रित है क्योंकि, विशिष्ट पारम्परिक मूल्य व आदर्श प्रतिमानो की झलक इस ग्रामीण समुदाय में देखी जा सकती है जहां मानवीय मूल्य जीवित होते हैं। जैसा कि पीटर कोपोटकिन ने उक्ति दी है कि प्रतिस्पर्धा जंगल का कानून है लेकिन सहयोग सभ्यता का कानून है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में प्रतिस्पर्धा के रूप में शामिल है। यह प्रतिस्पर्धात्मक तत्व ग्रामीण समुदाय के संस्कृति के सहयोगात्मक तत्व में सम्मिलित होते जा रहे हैं जिससे समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना व भाषा प्रभावित हो रही हैं। प्रस्तुत शोध के माध्यम से भूमंडलीयकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य

1. भूमंडलीकरण के युग में ग्रामीण समुदाय के लोगो के सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि को जानना।

2. भूमंडलीकरण का मुख्य वाहक मुक्त बाजार (पूंजी–प्रवाह) का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है।
3. भूमंडलीकरण का दूसरा मुख्य, वाहक संचार के माध्यमों का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर पड़ने वाले प्रभाव को जानना है।

शोध प्रश्न

भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना जैसे– भाषा, वेशभूषा, खान–पान, रीति–रिवाज, अभ्यास, मूल्य, आचरण के नियम पर पड़ने वाले प्रभाव की जाँच करना है।

समग्र और निदर्शन

प्रस्तुत शोध अध्ययन का समग्र वाराणसी जनपद के तीन तहसीलों के सबसे कम गांव वाली तहसील पिंडरा का चयन किया गया है जिसके दो गाँव, जन–आधिक्य के आधार पर, पिंडरा और सिंधोरा का जनसंख्या के आधार पर चयन किया गया। पिंडरा गांव की जनसंख्या–15257 और सिंधोरा गाँव की 8599 है कुल योग 23856 है। अध्ययन हेतु निदर्श की ईकाई के आकार का चयन येमन विधि (Yamane Method) से करने पर 394 प्रतिनिधित्वपूर्ण इकाई प्राप्त हुईं। अध्ययन के लघु रूप हेतु आयु 40 से 60 के आधार पर 394 में से सोद्देश्य निदर्शन विधि के माध्यम से 68 इकाईयों को चुना गया। पिडंरा व सिंधोरा गॉव के उत्तरदाताओं से आंकड़ों का संग्रहण प्राथमिक रूप से साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से किया गया है।

उत्तरदाताओं की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि

व्यक्ति किसी भी समाज की सूक्ष्मतम ईकाई है। व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही किसी समाज के स्वरूप को पहचाना जा सकता है। आगबर्न के कथनानुसार, ''व्यक्तित्व का अर्थ ही मानव जीवन के सामाजिक मनोवैज्ञानिक आचरण का एकीकृत रूप है जो क्रिया की आदतों, अनुभूतियों, मनोवृत्तियों तथा अभिमतो द्वारा अभिव्यक्त होती है जो व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती है''(आगबर्न व निमकॉफ 1964: 159)

इस अध्ययन के उत्तरदाताओं में 64.7 प्रतिशत पुरूष तथा 35.3 प्रतिशत स्त्री उत्तरदाता हैं अन्य लिंग के उत्तरदाता इस क्षेत्र में नही पाए गएं। आयु वर्ग के आधार पर 32.4 प्रतिशत उत्तरदाताओं की आयु 50–55 वर्ष है, जो अन्य आयु वर्ग के प्रतिशत से ज्यादा है। शैक्षिक स्तर कर दृष्टि से, हाईस्कूल शैक्षिक स्तर रखने वाले उत्तरदाता 33.8 प्रतिशत हैं, जो अन्य स्तरों की अपेक्षा अधिक हैं। निरक्षर उत्तरदाता इस क्षेत्र में नहीं पाये गये, तथा स्नातकोत्तर या उससे ऊपर का शैक्षिक स्तर रखने वाले उत्तरदीताओं का प्रतिशत 4.4 है। उत्तरदाताओं में 58.8 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार का स्वरूप एकाकी है और 23.5 प्रतिशत का विस्तृत, तथा 17.7 प्रतिशत उत्तरदाता संयुक्त परिवार में रहते हैं। वैवाहिक स्थिति से सम्बन्धित आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 70.5 प्रतिशत उत्तरदाता विवाहित हैं, 11.8 प्रतिशत अविवाहित, 14.7 प्रतिशत विधवा/विधुर की स्थिति में है तथा 3 प्रतिशत तलाकशुदा हैं। व्यवसाय की दृष्टि से 47.00 प्रतिशत उत्तरदाता कृषि कार्य में संलग्न हैं, 35.3 प्रतिशत गैर–कृषि व्यवसायों में तथा 17.7 प्रतिशत औद्योगिक ईकाईयों में कार्य

तालिका संख्या –1

उत्तरदाताओं की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि

चर	वर्गीकरण	संख्या / प्रतिशत
लिंग	स्त्री	24 (35.3)
	पुरूष	44 (64.7)
	अन्य	00 (00.0)
	योग	68 / 100
आयु	40–45	16 (23.5)
	45–50	18 (26.5)
	50–55	22 (32.4)
	55–60	08 (11.8)
	60–65	04 (5.8)
	योग	68 / 100
शैक्षिक स्तर	निरक्षर	00 (0.0)
	प्राइमरी	18 (26.5)
	हाई स्कूल	23 (33.8)
	इण्डटरमीडिएट	20 (29.4)
	स्नातक	04 (5.8)
	स्नाकोत्तर व उससे ऊपर	03 (4.4)
	योग	68 / 100
परिवार का स्वरूप	एकाकी	40 (58.8)
	विस्तृत	16 (23.5)
	संयुक्त	12 (17.7)
	योग	68 / 100
वैवाहिक स्तर	विवाहित	48 (70.5)
	अविवाहित	08 (11.8)
	विधवा / विधुर	10 (14.7)
	तलाक शुदा	02 (3.0)
	योग	68 / 100
व्यवसाय की प्रकृति	कृषि	32 (47.0)
	गैर कृषि	24 (35.3)
	औद्योगिक ईकाई	12 (17.7)
	योग	68 / 100
आय	10000 से कम	12 (17.7)
	10000 से 20000	20 (29.4)
	20000 से 25000	20 (29.4)
	25000 से उपर	16 (23.5)
	योग	68 / 100

करते है। आय का स्तर मिला–जुला है, अधिकतर उत्तरदरता 10000 से 25000 हजार से ऊपर के आय वर्ग में शामिल हैं (देखें तालिका–1)।

भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति पर प्रभाव

समाज में संक्रमण हमेशा बना रहता है। समाज हमेशा से संक्रमण के कारण न्यूनाधिक रूप से अपने संरचनात्मक पक्ष में बदलाव करता है और क्रमशः इसके प्रकार्य में भी बदलाव आता है।

तालिका संख्या –2

भूमंडलीकरण का ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव पर उत्तरदाताओं का प्रत्युत्तर

चर (सूक्ष्म संरचना)	वर्गीकरण	संख्या / प्रतिशत
खान–पान में बदलाव	हाँ नहीं कह नहीं सकते योग	30 (44.1) 22 (32.4) 16 (23.5) 68 / 100
वेशभूषा	परम्परागत पोशाकों पश्चिमी पोशाक दोनों योग	00 (00.0) 52 (76.5) 16 (23.5) 68 / 100
भाषा (सम्प्रेषण हेतु)	भोजपुरी हिन्दी अंग्रेजी सभी मिलाजुला योग	05 (74) 10 (15.5) 05 (74) 48 (70.5) 68 / 100
रीति–रिवाज, विवाह, त्योहार, धर्म, परिवार से संबधित	परम्परागत आधुनिक दोनों योग	07 (10.2) 09 (13.3) 52 (76.5) 68 / 100
मूल्य	परम्परागत मूल्य आधुनिक मूल्य कह नहीं सकते योग	20 (29.4) 40 (58.8) 08 (11.8) 68 / 100
अभ्यास जीवन शैली में बदलाव	हाँ नहीं योग	56 (82.3) 12 (17.7) 68 / 100
आचरण के नियम	सहयोगात्मक प्रतिस्पर्धा दोनों योग	54 (79.4) 10 (15.5) 04 (5.1) 68 / 100

भूमंडलीकरण के संक्रमण द्वारा समाज के संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक पक्ष में होने वाले परिवर्तन की गति अति तीव्र रूप में देखी जा सकती है इस गति से बदलाव सामाजिक परिवर्तन के इतिहास में पहली बार देखी गया है। इस संक्रमण के प्रभाव को ग्रामीण परिवेश पर भी पड़ता दिखाई दे रहा है तथा ग्रामीण समुदाय में बदलाव आ रहा है। ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना में बदलाव को तालिका–2 में प्रस्तुत किया गया है–

तालिका संख्या – 2 भूमंडलीकरण के ग्रामीण समुदाय की संस्कृति की सूक्ष्म संरचना पर प्रभाव से सम्बन्धित है। खान–पान के बदलाव पर 44.1 प्रतिशत उत्तरदाता ने हां में जवाब दिया, 32.4 प्रतिशत ने नहीं में, तथा 23.5 प्रतिशत 'नहीं कह सकते' की स्थिति में थे। वेशभूषा में बदलाव के प्रति अधिकांश उत्तरदाताओं (76.5 प्रतिशत) ने पश्चिमी पोशाक पहने को वरीयता दी। परम्परागत पोशाक के प्रति सभी उदासीन पाये गए। आपस में एक दूसरे से बातचीत करने हेतु हिन्दी, अंग्रेजी व भोजपुरी भाषा का मिला–जुला उपयोग करने वाले उत्तरदाता 70.5 प्रतिशत पाए गए। 76.5 प्रतिशत उत्तरदाताओं का कहना है कि त्योहार, विवाह, धर्म, परिवार आदि के बीच विभिन्न प्रकार के समय–समय पर किए जाने वाले रीति–रिवाज में परम्परागत व आधुनिक दोनों के प्रत्यय शामिल है जीवन से संबधित मूल्य में 58.8 प्रतिशत उत्तरदाताओ में आधुनिक मूल्यों को महत्व दिया जाना पाया गया है। वहीं 29.4 प्रतिशत परम्परागत व 11.8 प्रतिशत उदासीन थे। जीवन शैली के सन्दर्भ में, 82.3 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि बदलाव आया है जबकि 17.7 प्रतिशत ने कहा है कि बदलाव नही आया है। आचरण का नियम, जो सामाजिक जीवन की प्रक्रिया में शामिल है, वह है सहयोग। जिसमें 79.4 प्रतिशत ने माना है कि प्रक्रिया सहयोगात्मक है तथा आधुनिक समाज की प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया को 15.5 प्रतिशत उत्तरदाता मान्यता देते है 5.1 प्रतिशत ने दोनों को ही मान्यता दी है।

परिणाम

उपरोक्त प्रस्तुत विश्लेषण से यह परिणाम प्राप्त हुआ है कि ग्रामीण परिवेश के जन–जीवन पर भूमंडलीकरण का प्रभाव पड़ा है जिससे उनकी जीवन–शैली में पहले से परिवर्तन हुए हैं लेकिन दूसरी तरफ आंशिक रूप से अपनी परम्परा को भी लोगों ने जीवित रखा है। सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि ग्रामीण समुदाय की सहयोगात्मक प्रक्रिया पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रुप में यह कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने उच्च–संस्कृति को प्रभावित किया है। जिसे हम लोकप्रिय संस्कृति कहते हैं, इस लोकप्रिय संस्कृति ने लोगों के जीवन के बाह्य पक्ष में बदलाव किया है परन्तु आन्तरिक पक्ष को आंशिक रूप से स्पर्श किया है। संस्कृति की सफलता के चार–तत्व अनुभव, ज्ञान, गति और फोकस के मध्य असन्तुलन उत्पन्न हुआ है जो किसी स्थानीय संस्कृति के दिशा–भ्रम के रूप में देखा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

कैस्टेल्स, मेनुअल 2000: *द राइज़ ऑफ द नेटवर्क सोसायटी,* ऑक्सफोर्ड रेवैंडः विले बैकवेल पब्लिशस।

मैरिन, जे.लेवी (1952) दी सट्रक्चर ऑफ सोसायटी, प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

फ्रीडमैन, टी. 2005: *द वर्ल्ड इज़ फ्लैट*, फरार, स्ट्रॉस एंड गिरौक्स।

शर्मन, ब्रांडन जे. 2011: *ग्लोबलाइजेशन पॉलिसी एंड इश्यूज*, कोलंबियाः नोवा साइंस पब्लिशर्स।

थेरबर्न, जी. 2000: ग्लोबलाइजेशनः डायमेंशन, हिस्टोरिकल वेव्ज, रीजनल इफेक्ट्स, नॉर्मेटिव गवर्नेंस, *इंटरनेशनल सोशियोलॉजी*, 15(2), 151–179

गिडेंस, एन्थोनी 1990: *द कॉन्सिक्वेन्सेस ऑफ मॉडर्निटी*, कैम्ब्रिज, ब्लैकवेल पब्लिशर लिमिटेड।

मटेरा, वी (2016) ''अंडरस्टैन्डिंग कल्चरल डाइवसिटीः कल्चर, कल्चर ट्रेट्स एंड कल्चरल चेंज बिटवीन ग्लोबल एंड लोकल स्केलस्'' इन फेबरिजिओ पेनबिएनको एंड इमेनुअल सैरेली (एडिटिड) *अंडरस्टैन्डिंग कल्चरल ट्रैट्स* , स्परिंगर, पृ0 21–42

गीर्ट्ज, सी. 1973: *द इंटरप्रिटेशन ऑफ कल्चरः सेलेक्टेड एस्सेज*. न्यूयार्कः बेसिक बुक्स।

ग्रिलो, आर.डी. 2003: 'कल्चरल इसेंसियलिज्म एंड कल्चरल एन्कजायटी', *एनथ्रापोलोजी टुडे*, 3(2): 157–173।

टायलर इ. बी. एण्ड इ. बार्नेट. टायलर 1871: *प्रीमिटिव कल्चर*, न्यूयार्कः जे. मूरे एण्ड संस।

बोर्डियो, पी. 1986: ''द फॉर्म ऑफ कैपिटल'' इन रिचर्डसन जे. (एडि.) हैंडबुक ऑफ थ्योरी एंड रिसर्च फॉर द सोशियोलॉजी ऑफ एजुकेशन, ग्रीनवुड न्यूयार्क पृष्ठ संख्या, 241–258।

वेगेनर, ए. 2015: 'एल एची कल्चरल वी एट मोर्ट डी अनकॉन्सेप्ट ऐन साइंसेज सोसेल्स। यूरोप डेस कल्चर्स' वाल्यूम–11 पीटर लैंग, बुक्सेल्स, बर्लिन, न्यूयॉर्क, ऑक्सफोर्ड, वियेना।

स्टेगर. एम. 2014: 'अप्रोच टू द स्टडी ऑफ ग्लोबेजेशन' इन स्टेजर एम.बी., बैटर्स बी. पी. , सिरैक्यूज जे. (एडि.) द सेज हैंडबुक ऑफ ग्लोबलाइजेशन वाल्यूम–1, सेज लंदन, पृ0 52–76।

अप्पादुरई, ए. 1996: 'मॉडर्निटी एट लार्ज कल्चरल डाइमेंशन ऑफ ग्लोबलाइजेशन', मिन्नेपोलिसः यूनिवर्सिटी ऑफ मिन्नेसल प्रेस।

राव, एम. एस. ए. 2018: सोशल चेन्ज इन मालाबार, बोम्बेः पॉपुलर बुक डिपो।

सिंह, जी. एंड सिंह, एस. 2007: 'डायस्पोरा फिलैंथ्रोपी इन एक्शन' : इन इवैल्युएशन ऑफ मॉडर्नाइजेशन इन पंजाब विलेजेज, *जेपीएस*, 14(2), पृ0 226

दुबे, पी. 2011: 'मॉडर्नाइजेशन' इन *ट्राइबल सोसायटी मैनेजमेंट रिव्यू* , 34 (1), पृ0 36–41

मोहन, वी एंड अन्य 2012: 'प्रिवेंशन ऑफ डायबिटीज इन रूरल इंडिया विथ ए टेलीमेडिसिन', *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ डायबिटीज साइंस एंड टेक्नोलाजी* 69(6), 1355–1364

समाह, ए. 2016: 'पार्टिसिपेशन इन क्वालिटी ऑफ लाइफ'; ए स्टडी ऑन द पीपूल्स इंपावरमेंट इन ए माले विलेज कम्यूनिटी, *पार्टनिका जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज एण्ड हयूमेनिटिज*, वाल्यूम – 14(1), पृ0 11–25।

आगबर्न, विलियम एफ. एंड मेयर एफ. निमकॉफ 1964: ए हेन्डबुक ऑफ सोशियोलोजी. लन्दनः रुतलेज एंड केगन पॉल।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2022
वर्ष 8, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2022, पृ. 41–46

मॉक्स वेबरः विधि एवं समाज

सत्या मिश्रा*

मैक्से मिलियन कार्ल एमिल वेबर समाजविज्ञान के क्षेत्र में 'मॉक्स वेबर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेबर उन प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों में से एक हैं जिन्होंने समाजशास्त्र को विकसित किया व परिपक्व बनाया। प्रस्तुत शोध प्रपत्र में मॉक्स वेबर पर तीन आयामों से दृष्टिपात किया गया है–1. मॉक्स वेबर की सामाजिक एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि; 2. मॉक्स वेबर का कृतित्व; तथा 3. वेबर के विधि एवं समाज संबंधी विचार।

मॉक्स वेबर की सामाजिक एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि

प्रसिद्ध दार्शनिक, समाजशास्त्री एवं राजनीतिक अर्थशास्त्री मॉक्स वेबर का जन्म जर्मनी के थुरिंगा नगर के इरफुर्ट नामक स्थान पर धनी व्यापारी परिवार में 21 अप्रैल 1864 को हुआ था। वेबर के पिता व्यापारी परिवार से सम्बन्धित थे तथापि वे स्वयं मजिस्ट्रेट (न्यायाधीश) थे। वे विभिन्न राजनीतिक पदों पर आसीन रहे। वे दक्षिण पंथी उदारवादी थे और राष्ट्रीय उदारवादी दल के महत्वपूर्ण सदस्य थे। वेबर के पिता व्यवस्था पक्ष के बुर्जुआ राजनीतिज्ञ थे लेकिन उनकी माँ धार्मिक विचारों वाली थीं और उनका कैल्विनवाद पर विश्वास था। 'अल्फ्रेड वेबर' उनके बड़े भाई थे जिनका योगदान "सांस्कृतिक समाजशास्त्र" के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। वे अर्थशास्त्री थे।

मॉक्स वेबर समाजशास्त्र की मानववादी धारा से संबंधित रहे हैं; वे अपने दौर की जर्मनी की नव–कांतवादी धारा के बौद्धिकों यथा– विल्हेम विंडलविंड, डिल्थे, हेनरिक रिकर्ट से प्रभावित रहे हैं। वेबर ने मंतव्यात्मक या व्याख्यात्मक बोध (Verstehen) की पद्धति विकसित की। युक्तिकरण या तर्कसंगतीकरण (Rationalization) की अवधारणा पर कार्य किया।

मॉक्स वेबर कानून के विद्यार्थी थे। इन्होंने 1882 में हैडलबर्ग विश्वविद्यालय में विधि के विद्यार्थी के रुप में प्रवेश लिया। एक वर्ष की सैन्य सेवा के पश्चात् वे बर्लिन विश्वविद्यालय में चले गये और कनिष्ठ वकील की भाँति कार्य करने लगे। 1880 के बाद से वेबर ने निरन्तर कानून एवं इतिहास का अध्ययन किया। वेबर ने 1889 में कानून में डॉक्ट्रेट की उपाधि अर्जित की। वेबर की शोध उपाधि का विषय था "मध्यकाल के व्यापारिक संघों का इतिहास"। आगे चलकर इन्होंने पोस्ट डॉक्टोरल की उपाधि प्राप्त की जिसका थीसिस का शीर्षक था– "रोमन एग्रेरियन हिस्ट्री एण्ड इट्स

*सत्या मिश्रा, प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, नारी शिक्षा निकेतन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ

सिग्नीफिकेंस फॉर पब्लिक एण्ड प्राइवेट लॉ" इसके पश्चात् मॉक्स वेबर बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे। मॉक्स वेबर उन प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों में से एक हैं, जिन्होंने अपने बहुआयामी अध्ययनों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में अपना बौद्धिक योगदान दिया।

मॉक्स वेबर का कृतित्व

शोध प्रपत्र का यह भाग वेबर के कृतित्व पर प्रकाश डालता है। इनकी कृतियाँ निम्नांकित हैं–

1. द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म (1905)
2. द रिलिजन ऑफ चाइना (1916)
3. द रिलिजिन ऑफ इंडिया (1916–17)
4. एंशेंट जूडाइज्म (1917–19)
5. इकॉनॉमी एण्ड सोसायटी (1921–22), दो भागों में प्रकाशित।
6. सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन (1922)
7. द सिटी (1922)
8. जनरल इकोनॉमिक थ्योरी (1923)
9. द थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड इकोनॉमिक ऑर्गेनाइजेशन (1925)
10. द मैथडोलॉजी ऑफ सोशल साइंसेज (1949)
11. द रैशनल फाउंडेशंस ऑफ म्यूजिक (1958)

जो पुस्तकें मैक्स वेबर पर लिखी गईं उनका विवरण निम्न हैं–

सर्वप्रथम वेबर की पत्नी मारियन वेबर (मारियन श्नित्ज़र) ने "मॉक्स वेबरः अ बायोग्राफी" में मॉक्स वेबर का जीवन चरित्र लिखा। इसके अतिरिक्त वेबर पर कतिपय अन्य पुस्तकें भी लिखी गईं यथा–

1. 'मॉक्स वेबर ऑन लॉइन इकॉनॉमी एण्ड सोसायटी', जिसके संपादक हैं एम० राइक्सटाइन।
2. "फ्राम मॉक्स वेबर" एसेज इन सोशियोलॉजी, इस पुस्तक के संपादक हैं– एच० गिर्थ तथा सी० डब्ल्यू मिल्स।
3. "मॉक्स वेबर", इस पुस्तक के संपादक हैं फ्रैंक पार्किंसन
4. मॉक्स वेबरः एन इंटेलेक्चुअल पोट्रेट के संपादक राइनहार्ड बैंडिक्स हैं। यह पुस्तक हिन्दी भाषा में भी प्रकाशित हुई है जिसके अनुवादक कैलाशनाथ शर्मा हैं।
5. मॉक्स वेबर ऑन इकॉनॉमी एण्ड सोसायटी, इस पुस्तक का संपादन हॉल्टन एवं टर्नर ने किया है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री टॉलकॉट पारसन्स 1927 में डॉक्टोरल डिग्री के लिए हैडलबर्ग विश्वविद्यालय गये जहाँ वे मॉक्स वेबर की पत्नी मारियन वेबर से मिले। पारसन्स ने वेबर के अध्ययनों का अंग्रेजी अनुवाद करने की इच्छा व्यक्त की और वेबर की दो पुस्तकों का जर्मन भाषा से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया–

"द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म" का अनुवाद आर० एच० टॉनीज, जो कि वेबर के समकालीन थे, के साथ मिलकर किया। एक अन्य पुस्तक 'द थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड इकोनॉमिक ऑर्गेनाइजेशन" का संपादन एवं अनुवाद ए० एम० हैंडरसन के साथ मिलकर किया। स्पष्ट

है कि स्वयं मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित कृतियों एवं उनपर लिखी गइ टीकाओं तथा अन्य पुस्तकों/समीक्षाओं के आधार पर वेबर के सिद्धान्तों को समग्र रुप से समझा जा सकता है।

मॉक्स वेबर के विधि एवं समाज संबंधी विचार

शोध प्रपत्र के इस भाग में मैक्स वेबर के विधि एवं समाज संबंधी विचारों को समझने का प्रयत्न किया गया है। मॉक्स वेबर ने विधि एवं समाज के संदर्भ में अपने विचारों का प्रतिपादन मूल रुप से जर्मन भाषा में लिखी गई अपनी पुस्तक 'रिटशॉफ्ट अंड गैसलशॉफ्ट ग्रुंड्रेबडेर वर्स्टहेंडेन सोज़ियोलॉगी' में किया है। यदि इस पुस्तक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया जाय तो इसका अर्थ होगा– 'इकोनॉमी एण्ड सोसायटीः एन आउटलाइन ऑफ इंटरप्रेटेटिव सोशियोलॉजी' 1922 में वेबर के मरणोपरान्त उनकी पत्नी मारियन वेबर द्वारा जर्मनी में 'इकॉनॉमी एण्ड सोसायटी' नामक पुस्तक को प्रकाशित किया गया जिसके दूसरे भाग में इनके कानून और समाज संबंधी विचारों का प्रतिपादन किया गया है यह पुस्तक वेबर की जर्मन भाषा की कृति का अंग्रेजी अनुवाद थी। 'इकॉनोमी एण्ड सोसायटी' नामक पुस्तक वेबर की मूल कृति के प्रकाशन के 46 वर्ष पश्चात् 1968 में प्रकाशित हुई जिसके अनुवादक थे गुन्थेर रोथ तथा क्लॉस विटिच। उल्लेखनीय है कि वर्ष 1998 में 'इंटरनेशनल सोशियोलॉजिकल एसोसिएशन' ने इस पुस्तक को 20वीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची में सम्मिलित किया है।

मॉक्सवेबर कानून के विद्यार्थी थे इन्होंने अपनी पारिवारिक संस्कृति से राजनीति और कानून के विचार ग्रहण किये थे उनकी रुचि व्यवहारिक राजनीति के अध्ययन में थी; वे राजनेता बनना चाहते थे, परन्तु बन नहीं पाये।

मॉक्स वेबर के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का मुख्य तत्व तार्किकीकरण (Rationalization) रहा है। वेबर ने औपचारिक तर्कसंगतता के माध्यम से न केवल नौकरशाही तंत्र की व्याख्या की है अपितु राजनीतिक संस्था का भी विवेचन किया है और इस संदर्भ में तीन प्रकार की सत्ता व्यवस्था का उल्लेख किया है– 1. परम्परागत सत्ता, 2. करिश्माई सत्ता तथा 3. तार्किक–वैधानिक सत्ता। धर्म, कानून नगर एवं संगीत की व्याख्या वेबर ने तार्किकीकरण के माध्यम से की है। 'तार्किकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानवीय संबंधों के प्रत्येक क्षेत्र में परिकलन, गणना और नियोजन का प्रयोग किया जाता है।'

मॉक्स वेबर के सभी अध्ययनों, यथा सत्ता, सामाजिक क्रिया, धर्म एवं पूंजीवाद, का महत्वपूर्ण उद्देश्य पश्चिमी सभ्यता के विशिष्ट लक्षणों को जानना था। सत्ता या प्रभुत्व के उपरोक्त तीनों रुपों तथा सामाजिक क्रिया या व्यवहार के विभिन्न स्वरुपों जैसे– परम्परागत (traditional), भावनात्मक (affective), तर्कयुक्त (rational) और आर्दशात्मक (normative) क्रिया का अध्ययन हो। इन सबका उद्देश्य पश्चिमी समाज के लक्षणों को उदघाटित करना ही था। मॉक्स वेबर आदर्श प्रारुप बनाते हैं और तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इन्होंने प्राचीन मिस्र, बेबीलोन, यूनान, आयरलैण्ड, रुस, गौल, उत्तरी यूरोपीय देशों तथा अफ्रीकी देशों की कानूनी व्यवस्था का सभ्यता के स्तर पर अध्ययन किया है। वेबर ने यह स्पष्ट किया है कि किन बिन्दुओं पर कानून में तार्किकता दृष्टिगत होती है, कानून के कौन से प्रकार हैं और इसकी कौन–कौन सी पद्धतियाँ हैं। वेबर कानूनी संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कानून की वैधता और संगठन में आने वाले बदलावों का अध्ययन करते हैं।

वेबर 'कानून के समाजशास्त्र' के जनक हैं। उनके अनुसार कानूनी प्रभुत्व का अर्थ तार्किकता से है। वेबर ने यह भी पाया कि कानून को लागू करने हेतु एक संगठनात्मक व्यवस्था निर्मित की जाती है।

अधिकारी तंत्र की अवधारणा कानूनी/वैधानिक सत्ता का एक भाग है। कानूनी सत्ता का विकास विश्व भर की सभ्यताओं में शनैः शनैः हुआ है। कानून का सम्बन्ध न तो पवित्र परम्पराओं के साथ रहा है और न ही किसी महान व्यक्ति या नायक से। जिस देश में कानूनी प्रभुत्व दृष्टिगत होता है, निश्चित रुप से वह परिश्रमपूर्वक और सोच समझ कर बनाया हुआ होता है। वेबर ने कानून को परिभाषित किया है कि "विधि का समाजशास्त्र वह विधा है जो कि कानूनी अवधारणाओं में बढ़ती हुई तार्किकता का अध्ययन करती है। यदि कोई कानून है तो निश्चित रुप से तर्क और विवेक है।"

मॉक्स वेबर यह भी स्पष्ट करते हैं कि कौन सी संस्थायें या समूह कानून एवं तार्किकता के विकास में सहायक हैं और कौन सी बाधक। वे यह भी जानने का प्रयास करते हैं कि कौन से मनुष्य, मौलवी या सामाजिक समूह है जो कानूनी पद्धतियों को एक स्वरुप देते हैं। वेबर का निश्चित रुप से यह मानना है कि कानूनी व्यवस्था में एक ऐसी प्रक्रिया कार्य करती है जो तार्किकता को बढ़ाती है। वैबर इसे तार्किकीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वेबर ने विधि और उसकी प्रविधि के सामान्य विकास की चार अवस्थाओं को चिन्हित किया है–

1. विधि के पैगम्बरों द्वारा चमत्कारी विधि का दैवी संदेश।
2. विधि के उल्लेखनीय व्यक्तियों के द्वारा विधि की अनुभव मूलक तरीके से रचना एवं उपलब्धि।
3. धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्मतांत्रिक शक्तियों के द्वारा विधि का आरोपण।
4. औपचारिक रुप से तर्कसंगत विधि से शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों के द्वारा विधि की व्यवस्थित व्याख्या तथा न्याय का वृत्तिक प्रशासन।

मॉक्स वेबर द्वारा उल्लिखित इन चार अवस्थाओं में से राइनहार्ड बैंडिक्स ने तीन प्रवर्गों अथवा अवस्थाओं को अधिक स्पष्ट व उल्लेखनीय माना है– विधि के पैगम्बर, सत्ता के द्वारा विधि, विधि का आरोपण तथा विधि के उल्लेखनीय व्यक्तियों के द्वारा विधि की रचना (बैंडिक्स, 1960, पृ०–426)। उक्त चार अवस्थाओं के अतिरिक्त भी मॉक्स वेबर ने विधि के चरणबद्ध एवं कई स्तरों में विकास की व्याख्या की है–

1. करिश्माई कानून का प्रकटन (Revelation of Law)– वर्तमान समय में विधि के निर्माण का तरीका तर्कपूर्ण है इसके पहले जो कानून व्यवहार में लाया जाता था उसकी प्रकृति करिश्माई थी। पैगम्बर, संत, साधु या अवतार कानून को समाज के समाज के समक्ष प्रस्तुत करते थे। इसी कारण ऐसे कानून को करिश्माई कानून का प्रकटन कहते हैं। इस युग में लिपि नहीं थी और यह ज्ञान श्रुति परम्परा द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी पंहुचाया जाता था। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैंः भगवान बुद्ध के शिष्य आनंद ने प्रवचन के दौरान किसी एक अन्य शिष्य की शंका का समाधान 'मैंने बुद्ध से यही सुना है' इतिभया श्रुता कहकर किया। पैगम्बर मोहम्मद ने जो कहा वह कुरान बन गया, गीता में कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया वह एक प्रकार का अलिखित कानून है।
2. कानून का आरोपण या क्रियान्वयन– वेबर के अनुसार विधि के विकास का यह दूसरा चरण है। समाज ने कानून बनाने की संभावना की पूरी खोज की है। इस संदर्भ में वेबर ने कानून का पता लगाने (Law Finding) की बात की है। उनके अनुसार जितने भी करिश्माई कानून हैं उनका विधिवत गठन नहीं होता और न ही लिखित संरचना होती है जब समाज के समक्ष कोई समस्या उपस्थित होती

है तो उसके निपटारे के लिए कानून का पता लगाया जाता है और करिश्माई कानून किसी विकल्प को सुझाते है। शनैः शनैः जब समाज आधुनिक होने लगा तब कानून की रचना होने लगी। इसे वेबर ने 'कानून की रचना या गठन' (Law Making) कहा है। आधुनिक कानून के उदय का यह दूसरा चरण है। करिश्माई कानून में दण्ड की व्यवस्था नहीं मिलती तो कानून का पता लगाया जाता है; यदि कानून नहीं मिलता तो नये तरीके से विधि निर्माण किया जाता है। आपातकाल में निर्मित कानून की रचना पंथनिरपेक्ष होती है, वेबर ने इसे 'कानून की प्राणवायु' कहा है।

3. चर्च तथा कानूनी तार्किकता– कानून के विकास के तीसरे चरण में वेबर ने व्याख्या की है कि पहले राज्य पर चर्च का कानूनी प्रभाव था। राजतंत्र का सम्पूर्ण नियंत्रण चर्च के हाथ में था। हेनरी सप्तम राजा बनेगा या नहीं यह चर्च निर्धारित करता था। चर्च के कानून ने यूरोप में कानूनी तार्किकता पर बल दिया, उसे सुदृढ़ बनाया। वेबर का मानना था कि चर्च के कानून में लौकिक कानून की तुलना में औपचारिक तार्किकता अधिक थी। चर्च और कानूनी तार्किकता को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत वेबर ने स्पष्ट किया है–

1. चर्च का कानून प्रकृति के नियमों से बंधा हुआ है।
2. चर्च के कानून में व्यावसायिक कानून की विधियाँ सम्मिलित होती हैं। इस विधि का आधार तार्किकता और प्राचीन दर्शन होता है।
3. चर्च में ही अपनी हैडंबुक में पहली बार कानून को व्यवस्थित रुप में रखा।
4. मध्यकालीन यूरोप में कानून में औपचारिक अध्ययन के प्रचलन के साथ–साथ चर्च के कानून को धर्मनिरपेक्ष कानून से पृथक करके अध्यापन किये जाने पर बल दिया गया।
5. चर्च में भी एक कानूनी व्यवस्था होती है यथा– नैतिक अपराध के लिए चर्च दण्ड की व्यवस्था देता है।

4. राज्य और कानूनी संबंध– यूरोप और एशिया के देशों में पवित्र परम्पराओं और करिश्माई विधि के आधार पर सामजिक व्यवस्था चलती रही। धार्मिक ग्रन्थों में विधि की खोज की जाती थी। मध्य युग में इस व्यवस्था में परिवर्तन आया। राज्य के कानूनों ने चर्च के कानूनों ने चर्च को प्रभाव में ले लिया और कानूनी तार्किककता राज्य के अधीन हो गई। राज्य का विस्तार हुआ, राज्य की शक्ति में दृढ़ता आई और राज्य आम जनता की सुरक्षा के लिए, व्यवस्था बनाये रखने के लिए कानून बनाने लगा राज्य ने कानून व्यवस्था बनाये रखने हेतु सेना, पुलिस और न्यायपालिका का गठन किया। राज्य द्वारा निर्मित विधि में तार्किकता अधिक होती है।

5. कानूनी विशेषज्ञों द्वारा कानून की रचना– जब जादुई, करिश्माई और परम्परागत या प्रथागत कानूनों का प्रभाव क्षीण हो गया तो और अधिक तार्किकता में वृद्धि हुई। विधि का निर्माण वकील और न्यायाधीशों द्वारा किया जाने लगा। कानून जादू तथा पवित्र–परम्परा से मुक्त हो गया और तार्किक होता गया।

6. कानून में आनुभविक प्रशिक्षक– प्राचीन काल में कानून में प्रशिक्षण का कार्य पुरोहित, पैगम्बर या अवतार करते थे। आधुनिक समय में वकील तथा वकालत के व्यवसाय में प्रशिक्षित व्यक्ति करने लगे हैं। गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत वकीलों को व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता था और उन्हें व्यवसाय हेतु तैयार किया जाता था।

7. विश्वविद्यालयों में कानूनी शिक्षा– न केवल यूरोप में बल्कि भारत सहित अनेक देशों में भी कानूनी प्रशिक्षण विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा दिया जाने लगा है।

8. आधुनिक राज्य एवं उसकी वैधता– वेबर ने आधुनिक राज्य के कुछ अनिवार्य तत्व चिन्हित किये हैं यथा–

(क) एक प्रशासनिक एवं कानूनी व्यवस्था होती है जिसे विधि निर्माण द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

(ख) एक परिष्कृत अधिकारी तंत्र जो विधान द्वारा निर्मित कानूनों को लागू कर सके।

(ग) अनिवार्य विधि शास्त्र हो।

(घ) सरकार द्वारा प्रयुक्त की गई शारीरिक शक्ति में वैधता हो।

वेबर ने किसी भी राज्य के लिए एक निश्चित और समान रुप से लागू होने वाली दण्ड संहिता को आवश्यक माना है।

9. शक्ति संघर्ष– राज्य जो कानून बनाता है उसे कर्मचारी तंत्र लागू करता है। शक्ति संघर्ष दो स्तरों पर घटित होता है– (क) कर्मचारी तंत्र में संघर्ष शक्ति के बँटवारे को लेकर (ख) राजनीतिक दलों के मध्य शक्ति संघर्ष। दोनों स्तरों पर शक्ति संघर्ष का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

साराँशतः राइनहार्ड बैंडिक्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मॉक्स वेबर का विधि का समाजशास्त्र पाश्चात्य सभ्यता में विकसित, वैधानिक अवधारणाओं एवं व्यवहारों की बढ़ती हुई तर्कसंगतता के अध्ययन पर केन्द्रित है। वर्तमान आधुनिक समाजों की तर्क विधिक सत्ताओं के अध्ययन में आज भी वेबर का यह विश्लेषण प्रस्थान बिंदु बना हुआ है। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं विधिशास्त्र के क्षेत्र में कानून के विकास की ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याख्या आज भी प्रासंगिक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

रावत, हरिकृष्ण, 2014, समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्त कार, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

बैंन्डिक्स, राइनहार्ड, 1960, मैक्स वेबरः एन इंटेलेक्चुअल पोर्ट्रेट, डबलडे एडं कंपनी, न्यूयॉर्क।

शर्मा, कैलाशनाथ, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला–166, मैक्स वेबरः एक बौद्धिक व्यक्तित्व, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, लखनऊ।

दोषी, एस० एल० एवं जैन, पी० सी०, 1974, सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

खडका, चन्द्रशेखर, जून 2015, मैक्स वेबर्स लीगल पॉट एण्ड कॉन्ट्रीब्यूशन, शोध प्रपत्र, काठमांडू।

रोथ, गोन्थेर एवं विटिच क्लॉस, 1968, इकोनॉमी एण्ड सोसायटी, युनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रैस।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2022
वर्ष 8, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2022, पृ. 47–48

पुस्तक समीक्षा

सिंह, वीरेन्द्र पाल 2002: नेटवर्क, एजुकेशन एंड मोबिलिटी इन लीगल प्रोफेशन (Network] Education and Mobility in Legal Profession), **ई.टी.डी.आर. पब्लिकेशंस मेरठ; कुल पृष्ठ 125**

यह पुस्तक ग्रामीण परिवेश से शहरी क्षेत्र में अपने प्रशिक्षण और कार्य हेतु आने वाले अधिवक्ताओं की प्रथम प्रवासी पीढ़ी पर केंद्रित है। इस शोध कार्य में 200 अधिवक्ताओं का अध्ययन किया गया है। वैचारिक रूप से पुस्तक में वर्णित अध्ययन का उद्देश्य तीन समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की परस्पर क्रिया का विश्लेषण करना है– मेरठ में कानूनी पेशे के संदर्भ में सामाजिक नेटवर्क, शिक्षा और व्यावसायिक गतिशीलता। यह महत्वपुर्ण शोध कार्य इंस्टीट्यूट आफ एडवांस स्टडीज, मेरठ विश्वविद्यालय में 1989 में पूर्ण किया गया था। इस पुस्तक को छः अध्यायों में विभाजित किया गया है।

पुस्तक का प्रथम अध्याय शोध कार्य में प्रयुक्त प्रमुख समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को परिभाषित करता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा इन अवधारणाओं के अर्थ, उनकी परिभाषा और उनका समाजशास्त्रीय महत्व बहुत ही अर्थपूर्ण ढंग से इस अध्याय में विवेचन किया गया है। पुस्तक के इसी अध्याय में शोध कार्य के प्रमुख प्रश्न, शोध का उद्देश्य तथा शोध पद्धति का विस्तार से वर्णन किया गया है। पुस्तक का द्वितीय अध्याय अधिवक्ताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करता है। अधिवक्ताओं उनका जन्म स्थान, उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, उनका आयु वर्ग, जाति तथा वर्ग पृष्ठभूमि, उनका शैक्षणिक स्तर, उनकी वर्ग सदस्यता तथा कानूनी व्यवसाय में उनकी संबद्धता आदि पर विस्तार से चर्चा की गई है। तीन आयु वर्ग के अधिवक्ताओं को इस महत्वपूर्ण अध्ययन में सम्मिलित किया गया है–

1. युवा वर्ग (21 से 35 वर्ष)
2. मध्यम आयु वर्ग (36 से 50 वर्ष) तथा
3. वृद्ध वर्ग (50 वर्ष से अधिक)।

पुस्तक के इस अध्याय में दिया गया है कि कानूनी पेशे में युवाओं का प्रतिशत सर्वाधिक रहा जो मेरठ के ग्रामीण क्षेत्रों से संबंधित थे। हिंदू धर्म से संबंधित अधिवक्ताओं का प्रतिशत सर्वाधिक पाया गया। संयुक्त परिवार से आए हुए अधिवक्ताओं उच्च प्रतिशत था। इसी प्रकार उच्च जाति का प्रतिनिधित्व सर्वाधिक था। अन्य कई बिंदुओं पर भी महत्वपूर्ण सूचनाएं इस अध्याय में शामिल की गई हैं।

पुस्तक का तृतीय अध्याय कानूनी पेशे के व्यावसायिक गतिशीलता के स्वरूप को प्रस्तुत करता है। अंतर पीढ़ी व्यावसायिक गतिशीलता के स्वरूप को समझने के लिए इस अध्याय में उत्तर दाताओं के स्वयं के तथा उनके पिता के व्यावसायिक प्रस्थिति के अध्ययन परिणाम दिए गए हैं। अधिकतर अधिवक्ताओं की पश्ष्ठभूमि ग्रामीण रही थी। इसलिए उनके पिता कृषि कार्यों में संलग्न थे। इसी अध्याय में अंतरपीढ़ी व्यावसायिक गतिशीलता के अध्ययन परिणाम निम्न बिंदुओं पर समाहित हैं– जैसे ग्रामीण, शहरी, आयु, जाति, समय अवधि, प्रथम व्यवसाय की प्रकृति आदि।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय सामाजिक नेटवर्क और व्यावसायिक शिक्षा के अध्ययन परिणामों पर प्रकाश डालता है। शोध कार्य के उद्देश्य में एक मुख्य उद्देश्य यह भी था कि ग्रामीण समुदाय से शहरी परिवेश में आए एक व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धि में उसके व्यक्तिगत संबंधों की क्या भूमिका रहती है। इसी तथ्य के अध्ययन परिणामों में 84 प्रतिशत अधिवक्ताओं ने यह माना कि वे शिक्षा प्राप्ति हेतु बाहर अध्ययन करने गए थे। उनमें से 48 प्रतिशत ने बताया कि वह बाहर पढ़ने गए परंतु किसी ने भी उनकी कोई मदद नहीं की। केवल 36 प्रतिशत ने स्वीकार किया कि कुछ व्यक्तियों ने बाहर उनकी सहायता की थी। 44 प्रतिशत ने स्वीकार किया कि वे अपने पारिवारिक संबंधियों– चाचा अथवा भाइयों पर निर्भर रहे। जबकि 55 प्रतिशत अपने सामाजिक नेटवर्क पर आश्रित थे। जिनमें नातेदारी संबंधी तथा उनके पिताजी के दोस्त, गांववासी, शिक्षक आदि पाए गए। अध्ययन में यह पाया गया कि उत्तर दाताओं ने तीन प्रकार की सहायता का उल्लेख किया– प्रथम, आर्थिक सहायताय द्वितीय, निवास की सहायता तथा तृतीय, शिक्षा के लिए प्रेरणा की सहायता। आर्थिक सहायता प्राप्त करने का प्रतिशत सर्वाधिक रहा। इसके बाद आवास तथा अन्य बिंदु आते हैं। इस प्रकार पुस्तक के इस अध्याय में सामाजिक नेटवर्क और व्यावसायिक शिक्षा पर बहुत ही ज्ञानवर्धक जानकारी समाहित की गई है। उपरोक्त बिंदुओं पर अधिवक्ताओं के चार–पांच व्यक्तिगत अनुभव भी इस अध्याय में वर्णित है।

पुस्तक का अध्याय पंचम कानूनी पेशे को एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन पर आधारित है। कानून की डिग्री पूर्ण करने वाला व्यक्ति वरिष्ठ अधिवक्ता के साथ कार्य प्रशिक्षण प्राप्त करता है। यद्यपि कानून की 3 वर्षीय डिग्री पूर्ण करने वाले व्यक्ति को ऐसे कार्य प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वतंत्र रूप से कानून की प्रैक्टिस प्रारंभ कर सकता है। परंतु कानून के व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वरिष्ठ अधिवक्ता के साथ कार्य करके व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त किया जाता है। अधिवक्ताओं के व्यावसायिक प्रशिक्षण को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर स्वाभाविक रूप से कुछ प्रश्न उठते हैं– जैसे उन्होंने अपने वरिष्ठ अधिवक्ता सहकर्मी से कैसे संपर्क किया? उन संबंधों की प्रकृति क्या थी जिनके माध्यम से उन्होंने संपर्क स्थापित किया था? तथा उन्होंने कितने वर्षों तक वरिष्ठ अधिवक्ता के अधीन रहकर प्रशिक्षण प्राप्त किया था? आदि अनेक प्रश्नों का अध्ययन और उनके आंकड़े इस अध्याय की विषय वस्तु हैं।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक के अंतिम अध्याय में शोध का निष्कर्ष समाहित किया गया है। अधिवक्ताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि, अंतरपीढ़ीगत व्यावसायिक गतिशीलता का स्वरूप, अधिवक्ताओं की व्यावसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण में सामाजिक नेटवर्क की भूमिका तथा मेरठ के अधिवक्ताओं की पेशेवर भूमिका प्रदर्शन में सामाजिक नेटवर्क की भूमिका आदि प्रश्नों का अध्ययन तथा आंकड़ों का विश्लेषण इस अध्याय में सम्मिलित किये गये हैं।

इस महत्वपूर्ण शोध के सभी प्रमुख परिणामों पर पुस्तक इस अंतिम अध्याय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। इसी कारण से पुस्तक का भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें गहन रूप से तार्किक अध्ययन किया गया है। विशेषतया कानूनी पेशे से जुड़े अधि ावक्ताओं, छात्रों एवं शिक्षकों के लिए यह पुस्तक मार्गदर्शन का कार्य करती है। साथ ही, समाज विज्ञान से संबंधि ात शिक्षकों, छात्रों तथा शोधार्थियों के लिए भी यह पुस्तक कानूनी शोध के महत्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डालती है। मेरा ऐसा विचार है कि हम सभी के लिए यह एक उत्कृष्ट समीक्षा पूर्ण पुस्तक है।

डॉ.श्रीपाल चौहान
विभागाध्यक्ष एवं एसोसिएट प्रोफेसर,
सामाजिक विज्ञान विभाग,
महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय
कटनी (मध्य प्रदेश)
E-mail: spchauhan@gmail.com

फार्म 'बी'

सम्पादक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
अवधि	:	छःमाही
प्रकाशन का स्थान व पता	:	इलाहाबाद–18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
स्वामी का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
लेजर टाइप सैटिंग	:	ई.टी.डी.आर. कम्प्यूटर्स सी–28, पल्लवनुरम, फेस प्रथम, मेरठ–250110
मुद्रक का नाम व पता	:	साहिल प्रिंट मीडिया, 256, मोहन पुरी, मेरठ